छः एकांकी



- उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
- कमलाकान्त वर्मा
- भुवनेश्वर प्रसाद
- जैनेन्द्र कुमार
- गणेशप्रसाद द्विवेदी
- हरदयालसिंह मौना

सरस्वती-प्रेस

Chha: Ikanki

छः एकांकी



लक्ष्मी का स्वागत

उस पार

स्ट्राइक

टकराहट

कॉमरेड

राम-राजो



: परिचय :

प्रकाशचन्द्र गुप्त



Prakash Chandra Gupta

बनारस,

सरस्वती प्रेस ।

तृतीय संस्करण, जुलाई, १९४५
युद्ध-जनित अतिरिक्त-व्यय-सहित
मूल्य १॥)

मुद्रक—श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस।

परिचय

एकांकी नाटक का लम्बे नाटक से लगभग वही सम्बन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से। इनमें केवल लम्बाई का ही अन्तर नहीं है। दोनों विभिन्न जातियों की रचनाएँ हैं। एक में जीवन के किसी विशेष अंग की झलक रहती है, चरित्र का कोई एक पहलू, कोई घटना-संकेत ; दूसरे में जीवन की जटिलता, चरित्र की गुत्थियाँ, घटना-चक्र का नर्त्तन। एकांकी नाटक की कला अलग अपनी है, थोड़े से समय में दर्शक को जीवन की विषम समस्याओं का कुछ अनुमान करा दे, यह एकांकी नाटक का लक्ष्य है।

एकांकी नाटक की आयु अधिक नहीं हुई। वैसे तो छोटे-छोटे दृश्य पुरातन से रंगमंच पर दिखाये गये हैं। अँग्रेजी के पुराने नाटक Everyman अथवा The Four Pt, एक प्रकार के एकांकी नाटक ही हैं। कठपुतलियों के तमाशे जिनसे रंगमंच के विकास का घना सम्बन्ध है, एकांकी नाटक के-से ढंग पर ही ढले थे। किन्तु महासमर से कुछ वर्ष पूर्व—जब अँग्रेजी रंगमंच लगभग एक ही शताब्दी की गहरी निद्रा से आँख मलकर उठ रहा था—एक नये ढंग के छोटे नाटक का जन्म हुआ और शीघ्र ही वह लोकप्रिय भी हो गया। अमरीका में विशेषतया एकांकी नाटक का स्वागत हुआ, क्योंकि स्वभाव से ही अमरीका-निवासी षट्रस व्यंजन पसन्द करते हैं! एक लम्बे गम्भीर नाटक की अपेक्षा दो विभिन्न ढंग के छोटे नाटक देखना उन्होंने अधिक अच्छा समझा!

कहते हैं कि यह युग बड़ा तीव्रगामी है। इसे पल मारने का भी अवकाश नहीं। लन्दन अथवा बम्बई ऐसे नगर में ग्रामीण सोचता है कि कहीं आग बुझाने सब कोई भागे जा रहे हैं। रेल, तार और वायु-यान के इस गतिशील युग में कौन वह अन्त न होनेवाले ग्रन्थ पढ़े—

जिनमें जीवन की अचल घड़ियाँ ही सुरक्षित हैं? अथवा कौन रात में थका-माँदा घंटों 'सीट' पर बैठ अपनी नींद खराब करे? इस युग की तन्मयता भी महासमर ने नष्ट कर दी। उन चार वर्षों में गम्भीर नाटक को रंगमंच से हल्के, संगीत प्रधान प्रहसन ने निकाल बाहर किया। दर्शक अपने को भूलने के लिए ही रंग-भूमि में पहुँचते थे। एकाग्र साहित्य-साधना की किसी को इच्छा न रही।

ऐसे ही अनेक कारणों से एकांकी नाटक का पश्चिम के साहित्य में उत्थान हुआ। रंगमंच का स्वामी केवल अपना लाभ देखता है। कला की परख उसके पास नहीं। इन वणिकों और पेशेवाले अभिनेताओं से रंगमंच का उद्धार करने को इंगलैंड में अनेक स्वतन्त्र नाटक-मंडलियाँ बनीं। विद्यालयों और मनोरंजन के लिए अभिनय करनेवाले समाज में एकांकी नाटक का खूब स्वागत हुआ।

पश्चिम के नाटक-साहित्य में जो अब नया जीवन-संचार है, उसका एक चिन्ह एकांकी नाटक की सफलता भी है। जनसाधारण में जो नाट्य-कला के प्रति उत्साह है, उसे एकांकी नाटक से बेहद सहायता मिली है।

अँग्रेज़ी में एकांकी नाटक पुस्तक-बद्ध हो गये हैं। पठन-पाठन के लिए अनेक मालाएँ उपलब्ध हैं। शॉ (Shaw), गॉल्ज़वर्दी (Galsworthy) येट्स (Yeats) आदि महारथियों ने भी अनेक एकांकी नाटक लिखे हैं। शॉ का सर्व-प्रसिद्ध संक्षिप्त नाटक The man of Destiny नैपोलियन का रेखा-चित्र है। The Dark Lady of the Sonnets शेक्सपीयर के जीवन की एक किंवदन्ती का मनोरंजक और कुछ व्यंग लिये वर्णन है। शायद सभी एकांकी नाटकों में अग्रगण्य और प्रभावशाली Synge का Riders to the sea है। इस छोटे-से दुःखान्त नाटक में बड़ी व्यथा भरी है और इसकी सीधी-सादी भाषा में काव्य की आत्मा छिपी है।

पश्चिम में एकांकी नाटक के 'लघु जीवन' का इतिहास अभी से गर्वपूर्ण है। पाश्चात्य जीवन की अनेक अनुभूतियाँ यहाँ सुरक्षित हैं—

उनके मधुर स्वप्न, मदिर विलास, आशा, अभिलाषाएँ, उनका हास्य, जीवन के प्रति उनके दृष्टि-कोण। साहित्य के जीवन का यही प्रमाण है।

हिन्दी का कोई स्वतन्त्र रंगमंच नहीं। हमारे रंगमंच पर पारसी कंपनियों का अधिकार है। 'भारतेन्दु' और 'व्याकुल' नाटक मंडलियों ने हमारे रंगमंच को साहित्यिक बनाने में भगीरथ प्रयत्न किया, किन्तु लोकमत प्रगतिशील न होने के कारण यह प्रयास विफल रहा। हिन्दी के नाटक केवल पढ़े जाते हैं। वाचनालय की शान्ति से बाहर उनका जीवन नहीं। इसका प्रबल अपवाद 'एक भारतीय आत्मा' का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' था।

'भारतेन्दु' हमारे पहले नाटककार थे। उनके नाटक भी अभिनय के लिए लिखे गये थे। यद्यपि 'चन्द्रावली' को नाटक की अपेक्षा काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। भारतेन्दु के नाटकों में एक प्रकार की हलचल और उद्दाम यौवन है। आपका असम्पूर्ण नाटक 'प्रेमयोगिनी' संक्षिप्त नाटक समझा जा सकता है, यदि हम उसे केवल जीवन का एक टुकड़ा समझें। पं० बद्रीनाथ भट्ट बड़े मनोरंजक प्रहसन लिखते थे। 'चुंगी की उम्मेदवारी' पढ़कर अब भी हम हँस सकते हैं। 'प्रसाद'जी ने साहित्यिक नाटक को हिन्दी में ऊँचे आसन पर बैठाया। आपका 'एक घूँट' सफल एकांकी नाटक है। यहाँ जीवन की विनोद और काव्य-पूर्ण झाँकी हमें मिलती है, और उत्कृष्ट कोटि के हल्के रेखा-चित्र।

पिछले वर्षों में पं० गोविन्दवल्लभ पन्त और सुदर्शनजी ने मासिक-पत्रों में अनेक एकांकी नाटक लिखे। अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह नाटक एक लीक में ही फँसे रहे। उगते हुए साहित्य के यहाँ कोई लक्षण न दीखे। नाटक अच्छे थे, किन्तु भविष्य की ओर इंगित न करते थे।

आज हमारे जीवन में एक नवीन जागृति और हलचल है। प्रगतिशील साहित्य की हमारे बीच में माँग है। क्या हमारे साहित्यकार नवयुग की ओर अपने पैर बढ़ायेंगे?

अँग्रेज़ी के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में एकांकी नाटक की एक नई धारा फूट रही है। हिन्दी के भावी रंगमंच पर इसका भारी प्रभाव हो सकता है। हमारे विश्वविद्यालयों में जो अभिनय-योग्य नाटकों की खोज मचती है, वह दूर हो सकती है। साथ ही हमारा साहित्यिक नाटक भी पुन: रंगमंच के जीवन से मिल सकता है।

श्री भुवनेश्वरप्रसाद के एकांकी नाटकों का संग्रह 'कारवाँ' हिन्दी-साहित्य में एक नई शक्ति का चिह्न है। जितनी विद्रोह की भावना और आग इन रचनाओं में है, वह हिन्दी में बच्चन के अतिरिक्त किसी के पास नहीं। शायद भगवतीचरण वर्मा के पास भी नहीं। 'कारवाँ' कृतियों पर पाश्चात्य 'टेकनीक' और विचार-धारा की गहरी छाप है। किन्तु दलदल में फँसे साहित्य का उद्धार ऐसी विप्लवकारी शक्तियों से ही होता है। रूढ़िग्रस्त हमारे समाज के प्रति इन नाटकों में घोर असन्तोष है। अवसाद और उद्विग्नता की जो अन्तर्ध्वनि यहाँ सुन पड़ती है, वह नष्ट होते हुए समाज में स्वाभाविक है।

'कारवाँ' के Stage directions लम्बे और व्यापक हैं। उनकी भाषा एक नया आश्चर्य और विस्मय लिये है; उसकी विशेषता काव्य, शक्ति, अदम्य प्रवाह है। आपके शब्द-चित्र हमें विवश आकर्षित करते हैं—'कानपुर के पार्श्वभाग में लज्जा से मुँह छिपाये कुलियों के निवास-स्थान'; 'उसी ज्वलन्त नगर के प्रेत के समान एक भाग में एक कोठरी।' आपकी उपमाएँ—'मलिन वस्त्रों में बाइस वर्ष की युवती—जैसे आँसुओं की नीहारिका में नेत्र'; 'आपत्ति के समान एक २६-२७ वर्ष के युवक का प्रवेश'; 'घर का नौकर—जो भाग्य के समान काँप रहा है।' इतना नग्न यथार्थवाद अहमद अली की कहानियों में हमने अवश्य देखा है, किन्तु भाषा में वहाँ ऐसी लचक, व्यापकता, मौलिकता नहीं; शायद उनके उर्दू गद्य में हो।

शॉ Shaw का 'कारवाँ' के लेखक पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। आपने माना भी है कि आपका 'शैतान' शॉ का ऋणी है। 'श्यामा' पर 'Candida' की छाया लम्बी होकर पड़ी है। आप विवाह की विड-

रचना में काफ़ी उलझे हैं। आपके नाटकों में अधिकतर दो तरह के पात्र मिलेंगे—एक तो समाज के आगे आदर्शवादी बने, भीतर से खोखले, कपटी व्यक्ति; दूसरे समाज के सामने पतित, विद्रोही; किन्तु भारी बलिदान की क्षमता रखनेवाले वीर। आपके नाटक पढ़कर अनायास ही Ibsen के Doll's House' अथवा 'Pillars of Society' और शॉ के 'The Devil's Disciple', 'Candida' आदि का स्मरण हो आता है। किन्तु आपके दृश्य सचमुच ही भारतीय जीवन की कठिन और व्यथित आलोचना हैं। इन नाटकों में जीवन की-सी असम्पूर्णता भी है। हमें खेद है कि इन नाटकों की हिन्दी-जगत् में अभी तक समुचित चर्चा नहीं हुई। चलती हुई भाषा में व्यक्त हमारे समाज-व्यवधान के प्रति यह कड़वी चुनौती भी विफल रही।

श्रीयुत पृथ्वीनाथ शर्मा का एकांकी नाटक, 'दुविधा' भी पाश्चात्य 'टेकनीक' के अनुगत है, किन्तु स्वयं उसमें अपना उमड़ता हुआ जीवन नहीं। जैसा 'कारवाँ' में अवश्य है!

श्रीयुत सज्जाद ज़हीर ने भी 'हंस' में एकाध एकांकी नाटक लिखे हैं; आपकी भाषा सजीव हिन्दुस्तानी और आपके विचार प्रगतिशील हैं। अहमद अली की अपेक्षा आप राजनीति की ओर बहुत झुक गये हैं, किन्तु साहित्यकार के आप में भी स्वाभाविक गुण हैं। समाज की बँधी व्यवस्था को आप कठोर आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं और आपकी रचनाएँ नई दिशाओं की ओर इंगित करती हैं।

हाल में श्रीयुत रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों का संग्रह 'पृथ्वी-राज की आँखें' नाम से प्रकाशित हुआ है। जितना रहस्यमय शीर्षक है, उतनी असल रचना नहीं। नाटक अच्छे हैं। और ऊँची काव्य कल्पना के गुण उनमें हमें निरन्तर मिले। 'बादल की मृत्यु' तो नाटक के रूप में कविता ही है। 'चम्पक' हमको बहुत अच्छा लगा। 'नहीं का रहस्य' उससे कुछ उतरकर। उच्च मनुष्य स्वभाव के यहाँ विशद चित्र हैं। 'पृथ्वीराज की आँखें' और 'एक्ट्रेस' से निराशा-सी हुई।

वर्माजी को 'पथ-प्रदर्शक' के रूप में हम नहीं देख सके, यद्यपि

दुलारेलालजी उनको इसी रूप में देख रहे हैं। एकांकी नाटक को अथवा हिन्दी-साहित्य को यहाँ कोई नया पथ नहीं सुझाया गया। सरस भाषा और भावुकता जो इन नाटकों के प्रधान गुण हैं, वर्माजी की निजी संपत्ति हैं। 'टेकनीक' आदि में कुछ वर्माजी ने नया अन्वेषण नहीं किया।

हमें विश्वास होता है कि हिन्दी रंगमंच और एकांकी नाटक का भविष्य उज्ज्वल है। उच्च कोटि के मौलिक नाटक और अनुवाद हमारे सामने हैं। गुजराती के नवयुवक कवि श्री कृष्णलाल श्रीधराणी का एकांकी नाटक 'बरगद'❀ तो हमें बहुत ही प्रिय और मीठा लगा। अन्य भाषाओं में भी काम हो ही रहा है। हिन्दी की सृजन-शक्ति भी जाग्रत है। केवल एकांकी नाटक की ओर अभी वह उन्मुख नहीं हुई।

पन्तजी एक सुन्दर नाटक 'ज्योत्स्ना' लिख ही चुके हैं। क्या हम आशा करें कि कहानी की भाँति हमारे एकांकी नाटक में भी वह कुछ नई बात ला देंगे? श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानियों पर नाट्य-पद्धति की काफ़ी छाप है; चित्रपट के व्यक्तिगत अनुभव से भी आप इधर आकर्षित हुए होंगे। नरेन्द्र शर्मा के अप्रकाशित काव्यपूर्ण नाटक 'सन्ध्याभिसार' की एक बार मैंने पांडुलिपि देखी थी। वह भी श्रेष्ठ नाटक-रचना कर सकते हैं। 'अज्ञेयजी' की 'प्रतिभा' सर्वतोमुखी है ही। अहमद अली का एकांकी नाटक The Land of Twilight मैं अंग्रेजी में पढ़ चुका हूँ। इन शक्तियों को नाट्य-रचना में लगा दें, हमको कोई ऐसी परी की छड़ी चाहिए!

शायद स्वतः ही यह शक्तियाँ रंगमंच की परिधि में खिंच आवें। यदि लोकमत और साहित्यिक रुचि में बल है, तो नाटक का भंडार भी पूरा हो जायगा। विश्वविद्यालयों में और बाहर भी तरुण-युग रंगमंच की ओर मुड़ रहा है। यदि हममें स्वयं प्राण हैं, तो हमारे साहित्य का कोई अंग कैसे और कब तक निष्प्राण रह सकता है!

—प्रकाशचन्द्र गुप्त

❀ बरगद—सरस्वती-प्रेस, बनारस कैण्ट मू० ।।।)

लक्ष्मी का स्वागत

[श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उर्दू के मँजे और सिद्धहस्त कहानी-लेखक हैं। इधर कुछ वर्षों से आप हिन्दी में भी लिख रहे हैं। 'अश्क' की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपने उच्चकोटि की काव्य और नाटक रचना भी की है। आपका एकांकी 'लक्ष्मी का स्वागत' अनेक बार सफलता-पूर्वक खेला गया है। आज-कल 'अश्क' ऑल-इण्डिया रेडियो देहली के कर्मचारी हैं। आपने कुछ 'रेडियो-प्ले' भी लिखे हैं, इस अनुभव के कारण आपके नाटकों का अभिनय-गुण बढ़ता ही जायगा। यह हिन्दी के नाटकों की कमी खटका करती है।

नाटक के पीछे विषाद का गहरा भाव है। बड़ी ग्लानि और कड़वाहट इस एकांकी में है। भारतीय गृहस्थ-जीवन के प्रति यह एक तीखा व्यंग्य है। एक पत्नी की मृत्यु होते देर नहीं हुई, जब तक घर-वाले दूसरी की तजवीज़ करने लग गये। नाटक के वायु-मंडल में निरन्तर बादलों की घड़घड़ाहट और बिजली की चमक है। भारी, छिपी शक्ति का भान इस नाटक के वायु-मण्डल में होता है। भाषा सरल, प्रवाहमयी और सुन्दर है।

रचनाएँ : प्रात-प्रदीप (कविता)
उर्मियाँ ,,
स्वर्ग की झलक (नाटक)
सितारों का खेल (उपन्यास)
ढहती दीवारें (,,)

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

पात्र

रौशन : एक शिक्षित युवक
सुरेन्द्र : उसका मित्र
भाषी : उसका छोटा भाई
पिता : रौशन का बाप
मा : रौशन की माता
अरुण : रौशन का बीमार बच्चा

स्थान—जिला जालन्धर के इलाके में मध्यम श्रेणी के एक मकान का दालान।

समय—नौ-दस बजे सुबह।

[दालान में सामने की दीवार से मेज़ लगी है, जिसके इस ओर एक पुरानी कुर्सी पड़ी है। मेज़ पर बच्चों की किताबें बिखरी पड़ी हैं। दीवार के दायें कोने में एक खिड़की है, जिस पर मामूली छींट का पर्दा लगा है, बायें कोने में एक दरवाज़ा है, जो सीढ़ियों में खुलता है। दाईं दीवार में एक दरवाज़ा है जो कमरे में खुलता है; जहाँ इस वक्त रौशन का बच्चा अरुण बीमार पड़ा है।

दीवारों पर बिना फ्रेम के सस्ती तसवीरें कीलों से जड़ी हुई हैं। छत पर काग़ज का एक पुराना फ़ानूस लटक रहा है।

पर्दा उठने पर सुरेन्द्र खिड़की में से बाहर की तरफ़ देख रहा है। बाहर मूसलधार वर्षा हो रही है। हवा की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े सुनाइ देते हैं।

कुछ क्षण बाद वह खिड़की का पर्दा छोड़कर कमरे में घूमता है, फिर जाकर खिड़की के पास खड़ा हो जाता है—और पर्दा हटाकर बाहर देखता है।

दाईं ओर के कमरे में रौशनलाल दाखिल होता है।]

रौशन०—(दरवाजे को धीरे से बन्द करके) डाक्टर अभी नहीं आया ?

सुरेन्द्र०—नहीं।

रौशन—वर्षा हो रही है।

सुरेन्द्र—मूसलधार! इन्द्र का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ।

रौशन—शायद ओले पड़ रहे हैं।

सुरेन्द्र—हाँ, ओले भी पड़ रहे हैं।

रौशन—भाषो पहुँच गया होगा ?

सुरेन्द्र—हाँ, पहुँच ही गया होगा। यह वर्षा और ओले! बाजारों में घुटनों तक से कम पानी न होगा।

रौशन—लेकिन अब तक उन्हें आ जाना चाहिए था। (स्वयं बढ़कर, खिड़की के पर्दे को हटाकर देखता है, फिर पर्दा छोड़कर वापस आ जाता है) अरुण की तबीयत गिर रही है।

सुरेन्द्र—(चुप)

रौशन—(उसकी साँस जैसे हर घड़ी रुकती जा रही है, उसका गला जैसे बन्द होता जा रहा है, उसकी आँखें खुली हैं पर वह कुछ कह नहीं सकता, बेहोश-सा, असहाय-सा चुपचाप बिटर-बिटर ताक रहा है। आँखें लाल और शरीर गर्म है। सुरेन्द्र, जब वह साँस लेता है तो उसे बड़ा ही कष्ट होता है। मेरा कलेजा मुँह को आ रहा है। क्या होने को है, सुरेन्द्र ?

सुरेन्द्र—हौसला करो! अभी डाक्टर आ जायगा। देखो, दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी है।

[दोनों कुछ क्षण तक सुनते हैं। हवा की साँय-साँय]

रौशन—नहीं, कोई नहीं हवा है।

सुरेन्द्र—(सुनकर) यह देखो, फिर किसी ने दस्तक दी।

[रौशन बढ़कर खिड़की में देखता है, फिर वापस आ जाता है]

रौशन—सामने के मकान का दरवाजा खटखटाया जा रहा है।

[बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र कुर्सी से पीठ लगाये छत में हिलते हुए फ़ानूस को देख रहा है।]

—सुरेन्द्र, यह मामूली बुखार नहीं, यह गले की तकलीफ़ साधारण नहीं, मेरा तो दिल डर रहा है, कहीं अपनी मा की तरह अरुण भी तो धोखा न दे जायगा? (गला भर आता है) तुमने उसे नहीं देखा, साँस लेने में उसे कितना कष्ट हो रहा है!

[हवा की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े]

—यह वर्षा, यह आँधी, यह मेरे मन में हौल पैदा कर रहे हैं। कुछ अनिष्ट होने को है। प्रकृति का यह भयानक खेल, यह मौत की आवाज़ें...

[बिजली ज़ोर से कड़क उठती है। दरवाज़ा ज़रा-सा खुलता है। मा झाँकती है।]

मा—रौशी, दरवाज़ा खोलो। आओ, देखो शायद डाक्टर आया है।

[दरवाज़ा बन्द करके चली आती है।]

रौशन—सुरेन्द्र...

[सुरेन्द्र तेज़ी से जाता है। रौशन बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र के साथ डाक्टर और भाभी प्रवेश करते हैं। भाभी के हाथ में इंजेक्शन का सामान है।]

डाक्टर—क्या हाल है बच्चे का?

[बरसाती उतारकर खूँटी पर टाँगता है और रूमाल से मुँह पोंछता है।]

रौशन—आपको भाभी ने बताया होगा। मेरा तो हौसला टूट रहा है। कल सुबह उसे कुछ ज्वर हुआ और साँस में तकलीफ़ हो गई और आज तो वह बेहोश-सा पड़ा है, जैसे अन्तिम साँसों को जाने से रोक रखने का भरसक प्रयास कर रहा है।

डाक्टर—चलो, चलकर देखता हूँ।

[सब बीमार के कमरे में चले जाते हैं। बाहर दरवाज़े के खटखटाने की आवाज़ आती है। मा तेज़ी से प्रवेश करती है।]

मा—भाषी! भाषी!

[बीमार के कमरे से भाषी आता है।]

मा—देखो भाषी, बाहर कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है? (आँखों में चमक आ जाती है) मेरा तो खयाल है, वही लोग आये हैं। मैंने रसोई की खिड़की से देखा है। टपकते हुए छाते लिये और बरसातियाँ पहने...

भाषी—वही कौन?

मा—वही, जो सरला के मरने पर अपनी लड़की के लिए कह रहे थे। बड़े भले आदमी हैं। सुनती हूँ, सियालकोट में उनका बड़ा काम है। इतनी वर्षा में भी...

[ज़ोर-ज़ोर से कुण्डी खटखटाने की निरन्तर आवाज आती है। भाषी भागकर जाता है, मा खिड़की में जा खड़ी होती है। बीमार के कमरे का दरवाज़ा खुलता है। सुरेन्द्र तेज़ी से प्रवेश करता है।]

सुरेन्द्र—भाषी कहाँ है?

मा—बाहर कोई आया है, कुण्डी खोलने गया है।

[सुरेन्द्र फिर तेजी से वापस चला जाता है।]

[मा एक बार पर्दा उठाकर खिड़की से झाँकती है, फिर खुशी-खुशी कमरे में घूमती है। भाषी दाख़िल होता है।]

मा—कौन है?

भाषी—शायद वही हैं। नीचे बिठा आया हूँ, पिताजी के पास, तुम चलो।

मा—क्यों?

भाषी—उनके साथ एक स्त्री भी है।

[मा जल्दी-जल्दी चली जाती है। सुरेन्द्र कमरे का दरवाज़ा ज़रा-सा खोलकर देखता है और आवाज़ देता है—]

सुरेन्द्र—भाषी!

भाषी—हाँ!

सुरेन्द्र—इधर आओ।

[भाषी कमरे में चला जाता है। कुछ क्षण के लिए ख़ामोशी। केवल बाहर मेंह बरसने और हवा के थपेड़ों से किवाड़ों के खड़खड़ाने का शोर, कमरे में फ़ानूस के हिलने की सरसराहट। डाक्टर, सुरेन्द्र, रौशन और भाषी बाहर आते हैं।]

रौशन—डाक्टर साहब, अब बताइए।

डाक्टर—(अत्यधिक गम्भीरता से) बच्चे की हालत नाजुक है।

रौशन—बहुत नाजुक है ?

डाक्टर—हाँ !

रौशन—कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—परमात्मा के घर कुछ कमी नहीं, लेकिन आपने बहुत देर कर दी है। खन्नाक❀ (Diphtheria) में तत्काल डाक्टर को बुलाना चाहिए।

रौशन—हमें मालूम ही नहीं हुआ डाक्टर साहब, कल शाम को इसे बुखार हो आया, गले में भी इसने बहुत कष्ट महसूस किया। मैं डाक्टर जीवाराम के पास ले गया—वही जो हमारे बाजार में हैं—उन्होंने गले में आयरन-ग्लिसरीन पेंट कर दी और फीवर-मिक्स्चर बना दिया, बस दो बार दवा दी, इसकी हालत पहले से भी खराब हो गई। शाम को यह कुछ बेहोश-सा हो गया। मैं भागा-भागा आपके पास गया, पर आप मिले नहीं, तब रात को भाषी को भेजा, फिर भी आप न मिले। डाक्टर जीवाराम आये थे, पर मैं उनकी दवा देने का हौसला न कर सका और फिर यह झड़ी लग गई।

[ज़रा काँपता है]

—ओले, आँधी और तूफ़ान ! ऐसी प्रलयकारी वर्षा तो कभी न देखी थी।

[बाहर हवा की साँय-साँय सुनाई देती है। डाक्टर सिर नीचा किये

❀ Diphtheria—गले का संक्रामक रोग जिसमें साँस बन्द हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

खड़ा है, रौशन उत्सुक नज़रों से उसकी ओर ताक रहा है, सुरेन्द्र मेज के एक कोने पर बैठा छत की ओर ज़ोर-ज़ोर से हिलते फ़ानूस को देख रहा है।]

डाक्टर—(सिर उठाता है) मैंने इंजेक्शन दे दिया है। भाषी ने जो लक्षण बताये थे, उन्हें सुनकर मैं बचाव के तौर पर इंजेक्शन का सामान और ट्यूब साथ लेता आया था और मेरा ख़याल ठीक निकला। भाषी को मेरे साथ भेज दो, मैं इसे नुस्ख़ा लिख देता हूँ, यहीं बाज़ार से दवाई बनवा लेना, मेरी जगह तो दूर है। पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के बाद हलक़ में दवा की दो-चार बूँदें टपकाते रहना और एक घंटे में मुझे सूचित करना। यदि एक घण्टे तक यह ठीक रहा तो मैं एक इञ्जेक्शन और कर जाऊँगा। इंजेक्शन के सिवा डिपथीरिया का दूसरा इलाज नहीं।

रौशन— डाक्टर साहब... (आवाज़ भर आती है।)

डाक्टर— घबराने से काम न चलेगा, सावधानी से उसका तीमारदारी करो, शायद......

रौशन—मैं अपनी तरफ़ से कोई कसर न उठा रखूँगा। सुरेन्द्र, तुम मेरे पास रहना; देखो जाना नहीं, यह घर उस बच्चे के लिए वीराना है। यह लोग इसका जीवन नहीं चाहते, बड़ा रिश्ता पाने के मार्ग में इसे रोड़ा समझते हैं। इसकी मृत्यु चाहते हैं, सुरेन्द्र!

सुरेन्द्र—तुम क्या कह रहे हो रौशन? उन्हें क्या यह प्रिय नहीं? मूल से ब्याज प्यारा होता है?

डाक्टर—क्या कह रहे हो रौशनलाल?

रौशन—आप नहीं जानते डाक्टर साहब! यह सब लोग हृदयहीन हैं, आपको मालूम नहीं। इधर मैं अपने पत्नी का दाह-कर्म करके आया था, उधर ये लोग दूसरी जगह शादी के लिए शगुन लेने की सोच रहे थे।

सुरेन्द्र—यह तो दुनिया का व्यवहार है भाई!

रौशन—दुनिया का व्यवहार इतना शुष्क, इतना निर्मम, इतना क्रूर है? मैं उससे नफ़रत करता हूँ! क्या ये लोग नहीं समझते कि यह जो

मर जाती है, वह भी किसी की लड़की होती है, किसी माता-पिता के लाड़ में पली होती है, फिर उसके मरते ही सगाइयाँ लेकर दौड़ते हैं! स्मृति-मात्र से मेरा ख़ून उबलने लगता है!

डाक्टर—(चौंककर) देर हो रही है, मैं दवा भेजता हूँ। (भाषी से) भाषी, चलो।

[डाक्टर साहब और भाषी का प्रस्थान ।]

रौशन—सुरेन्द्र, क्या होने को है? क्या अरुण भी मुझे सरला की भाँति छोड़कर चला जायगा? मैं तो इसका मुँह देखकर सन्तोष किये हुए था। उस जैसी सूरत, उसी जैसी भोली-भाली आँखें, उसी जैसे मुस्कराते ओंठ, उसी जैसा सीधा सरल स्वभाव! मैं इसे देखकर सरला का ग़म भूल चुका था, लेकिन अब, अब...

[हाथों से चेहरा छिपा लेता है।]

सुरेन्द्र—(उसे ढकेलकर कमरे की ओर ले जाता हुआ) पागल न बनो, चलो, उसके घर में क्या कमी है? वह चाहे तो मरते हुओं को बचा दे, मृतकों को जीवन प्रदान कर दे!

रौशन—(भर्राये गले से) मुझे उस पर कोई विश्वास नहीं रहा। उसका कोई भरोसा नहीं—क्रूर, कठिन और निर्दयी! उसका काम सताये हुओं को और सताना है, जले हुए को और जलाना है। अपने इस जीवन में हमने किसको सताया, किसको दुःख दिया जो हम पर ये बिजलियाँ गिराई गईं, हमें इतना दुःख दिया गया!

सुरेन्द्र—दीवाने न बनो, चलो, उसके सिरहाने चलकर बैठो! मैं देखता हूँ, भाषी अभी क्यों नहीं आया।

[उसे दरवाज़े के अन्दर ढकेलकर मुड़ता है। दाईं ओर के दरवाज़े से मा दाख़िल होती है।]

मा—किधर चले?

सुरेन्द्र—ज़रा भाषी को देखने जा रहा था।

मा—क्या हाल है अरुण का?

सुरेन्द्र—उसकी हालत ख़राब हो रही है।

२

मा—हमने तो बाबा बोलना ही छोड़ दिया। ये डाक्टर जो न करें थोड़ा है। बहू के मामले में भी तो यही बात हुई थी। अच्छी भली हकीम की दवा हो रही थी, आराम आ रहा था, जिगर का बुखार ही था, दो-दो वर्ष भी रहता है; पर यह डाक्टर को लाये बिना न माना। डाक्टरों को आजकल दिक़ के बिना कुछ सूझता ही नहीं। जरा बुखार पुराना हुआ, जरा खाँसी आई कि दिक़ का फतवा दे देते हैं। 'मुझे दिक़ हो गया है!'—यह सुनकर मरीज़ की आधी जान तो पहले ही निकल जाती है। हमने तो भाई इसलिए कुछ कहना-सुनना छोड़ दिया है। आखिर मैंने भी तो पाँच बच्चे पाले हैं बीमारियाँ हुईं, कष्ट हुए, कभी डाक्टरों के पीछे भागी-भागी नहीं फिरी। क्या बताया डाक्टर ने?

सुरेन्द्र—डिपथीरिया!

मा—वह क्या होता है?

सुरेन्द्र—बड़ी ख़तरनाक बीमारी है माजी! अच्छा-भला आदमी दो-चार दिन के अन्दर ख़तम हो जाता है।

मा—(काँपकर) राम-राम, तुम लोगों ने क्या कुछ-का-कुछ बना डाला! उसे ज़रा ज्वर हो गया, छाती जम गई, बस मैं घुट्टी दे देती तो ठीक हो जाता, लेकिन मुझे कोई हाथ लगाने दे तब न! हमें तो वह कहता है, बच्चे से प्यार ही नहीं।

सुरेन्द्र—नहीं-नहीं, यह कैसे हो सकता है? आपसे अधिक वह किसे प्यारा होगा?

[चलने को उद्यत होता है।]

मा—सुनो!

[सुरेन्द्र रुक जाता है

मा—मैं तुमसे बात करने आई थी, तुम उसके मित्र हो, उसे समझा सकते हो।

सुरेन्द्र—कहिए।

मा—आज वह फिर आये हैं।

सुरेन्द्र—वे कौन ?

मा—सियालकोट के एक व्यापारी हैं। जब सरला का चौथा हुआ था तो उस दिन रौशी के लिए अपनी लड़की का शगुन लेकर आये थे। पर उसे न जाने क्या हो गया है, किसी की सुनता ही नहीं, सामने ही न आया। हारकर बेचारे चले गये। रौशी के पिता ने उन्हें एक महीने बाद आने को कहा था, सो पूरे एक महीने बाद वे आये हैं।

सुरेन्द्र- -माजी...

मा—तुम जानते हो बच्चा, दुनिया-जहान का यह क़ायदा ही है। गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा होता है। रामप्रताप ही को देख लो, अभी दाह-कर्म-संस्कार के बाद नहाकर साफ़ा भी न निचोड़ा था कि नकोदरवालों ने शगुन दे दिया, एक महीने के बाद विवाह भी हो गया। और अब तो सुनते हैं, एक बच्चा भी होनेवाला है।

सुरेन्द्र—माजी, रामप्रताप और रौशन में कुछ अन्तर है।

मा—यही कि वह माता-पिता का आज्ञाकारी है, और यह पढ़-लिखकर मा-बाप की अवज्ञा करना सीख गया है। बेटा, अभी तो चार नाते आते हैं, फिर देर हो गई तो इधर कोई मुँह भी न करेगा। लोग सौ बातें बनायेंगे, सौ-सौ लांछन लगायेंगे और फिर ऐसा कौन क्वाँरा है...

सुरेन्द्र—तुम्हारा रौशन बिन-ब्याहा नहीं रहेगा, इसका मैं यक़ीन दिलाता हूँ।

मा—यही ठीक है, पर अब यह शरीफ़ आदमी मिलते हैं। घर अच्छा है, लड़की अच्छी है, सुशील है, सुन्दर है, सुशिक्षित है; और सबसे बढ़कर यह है कि ये लोग बड़े भले हैं। लड़की की बड़ी बहन से अभी मैंने बातें की हैं। ऐसी सलीक़ेवाली है कि क्या कहूँ। बोलती है तो फूल झड़ते हैं। जिसकी बड़ी बहन ऐसी है, वह स्वयं कैसे अच्छी न होगी ?

सुरेन्द्र—माजी, अरुण की तबीयत बहुत ख़राब है। जाकर देखो तो मालूम हो।

मा—बेटा, ये भी तो इतनी दूर से आये हैं। इस आँधी और तूफ़ान में कैसे उन्हें निराश लौटा दूँ ?

सुरेन्द्र—तो आख़िर आप मुझसे क्या चाहती हैं ?

मा—तुम्हारा वह मित्र है, उससे जाकर कहो कि ज़रा दो-चार मिनट जाकर उनसे बात कर ले। जो कुछ व पूछते हों, उन्हें बता दे, इतने में लड़के के पास बैठती हूँ।

सुरेन्द्र—मुझसे यह नहीं हो सकता माजी, बच्चे की हालत ठीक नहीं; बल्कि शोचनीय है। और आप जानती हैं वह उसे कितना प्यार करता है। भाभी के बाद उसका सब ध्यान बच्चे में केन्द्रित हो गया है। वह उसे अपनी आँखों मे बिठाये रखता है, स्वयं उसका मुँह-हाथ धुलाता है, स्वयं नहलाता है, स्वयं कपड़े पहनाता है और इस वक़्त जब बच्चे की हालत ठीक नहीं, मैं उससे यह सब कैसे कहूँ ?

[बीमार के कमरे का दरवाज़ा खुलता है। रौशन दाख़िल होता है।

बाल बिखरे हुए, चेहरा उतरा हुआ, आँखें फटी-फटी सी।]

रौशन—सुरेन्द्र, तुम अभी यहीं खड़े हो ? परमात्मा के लिए जल्दी जाओ ! मेरी बरसाती ले जाओ, नीचे से छतरी ले जाओ, देखो भाषी आया क्यों नहीं ? अरुण तो जा रहा है, प्रतिक्षण जैसे डूब रहा है !

[सुरेन्द्र एक बार खिड़की से बाहर देखता और फिर तेज़ी से निकल जाता है। मा रौशन के समीप जाती है।]

मा—क्या बात है, घबराये क्यों हो ?

रौशन—मा, उसे डिफ्थीरिया हो गया है।

मा—सुरेन्द्र ने बताया है। (असन्तोष से सिर हिलाकर) तुम लोगों ने मिल-मिलाकर...

रौशन—क्या कह रही हो ? तुम्हें अगर स्वयं कुछ मालूम नहीं तो दूसरों को तो कुछ करने दो।

मा—चलो, मैं चलकर देखती हूँ।

[बढ़ती है।]

रौशन—(रास्ता रोकता है) नहीं, तुम मत जाओ। उसे बेहद तकलीफ़ है, उसे साँस मुश्किल से आती है, उसका दम उखड़ रहा है, तुम कोई घुट्टी-बुट्टी की बात करोगी। तुम यहीं रहो, मैं उसे बचाने की अन्तिम कोशिश करूँगा।

[जाना चाहता है।]

मा—सुनो!

[रौशन मुड़ता है। मा असमंजस में है।]

रौशन—कहो!

मा—(चुप।)

रौशन—जल्दी-जल्दी कहो, मुझे जाना है।

मा—वे फिर आये हैं।

रौशन—वे कौन?

मा—वही सियालकोटवाले!

रौशन—(क्रोध से) उनसे कहो, जिस तरह आये हैं, वैसे ही चले जाँय।

[जाना चाहता है।]

मा—रौशी!

रौशन—मैं नहीं जानता, मैं पागल हूँ या आप! क्या आप मेरी सूरत नहीं देखती? क्या आपको इस पर कुछ लिखा दिखाई नहीं देता? शादी, शादी, शादी! क्या शादी ही दुनिया में सब कुछ है! घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी की सूझ रही है! आखिर तुम लोगों को हो क्या गया है? वह अभी मृत्यु-शय्या पर पड़ी थी कि तुमने मेरी साली को लेकर शादी की बात चला दी; वह मर गई, मैं अभी रो भी न पाया कि तुम शगुन लेने पर जोर देने लगीं। क्या वह मेरी पत्नी न थी? क्या वह कोई फालतू चीज़ थी?

मा—शोर मत मचाओ! हम तुम्हारे फ़ायदे की बात करते हैं, रामप्रताप...

रौशन—(चीखकर) तुम रामप्रताप को मुझसे मिलाती हो!

अनपढ़, अशिक्षित, गँवार ! उसके दिल कहाँ है ? महसूस करने का माद्दा कहाँ है ? वह जानवर है !

मा—तुम्हारे पिता ने भी तो पहली पत्नी की मृत्यु के दूसरे महीने ही विवाह कर लिया था...

रोशन—वे...मा जाओ, मैं क्या कहने लगा था ?

[तेज़ी से मुड़कर कमरे में चला जाता है और दरवाज़ा बन्द कर लेता है। हाथ में हुक्का लिये हुए, खँखारते-खँखारते रौशन के पिता का प्रवेश।]

पिता—क्या कहता है रौशन ?

मा—वह तो बात भी नहीं सुनता, जाने बच्चे की तबीयत बहुत खराब है।

पिता—(खँखारकर) एक दिन में ही इतनी क्या ख़राब हो गई ? मैं जानता हूँ, यह सब बहानेबाज़ी है।

[ज़ोर से आवाज़ देता है—]

—रौशी, रौशी !

[खिड़कियों पर वायु के थपेड़ों की आवाज़]

[फिर आवाज़ देता है--]

—रौशी, रौशी !

[रौशन दरवाजा खोलकर झाँकता है। चेहरा पहले से भी उतरा हुआ है, आँखें रुँआसी-सी और निगाहों में करुणा।]

रौशन—(अत्यन्त थके स्वर से) धीरे बोलें, आप क्या शोर मचा रहे हैं ?

पिता—इधर आओ !

रौशन—मेरे पास समय नहीं !

पिता—(चीखकर) समय नहीं ?

रौशन—धीरे बोलिए आप !

पिता—मैं कहता हूँ, वे इतनी दूर से आये हैं, तुम्हें देखना चाहते हैं, तुम जाकर उनसे ज़रा एक-दो मिनट बात कर लो।

रौशन—मैं नहीं जा सकता।

पिता—नहीं जा सकता ?

रौशन—नहीं जा सकता !

पिता—तो मैं शगुन ले रहा हूँ ! इस वर्षा, आँधी और तूफ़ान में मैं उन्हें अपने घर से निराश नहीं भेज सकता, घर आई लक्ष्मी को नहीं लौटा सकता। लड़की अच्छी है, सुन्दर है, घर के काम-काज में चतुर है, चार-पाँच श्रेणी तक पढ़ी है। रामायण, महाभारत बख़ूबी पढ़ लेती है।

[रोने की तरह रौशन हँसता है।]

रौशन—हाँ, आप लक्ष्मी को न लौटाइए।

[खट से दरवाज़ा बन्द कर लेता है।]

पिता—(रौशन की मा से) इस एक महीने में हमने कितनों को इनकार किया है, पर इनको कैसे इनकार करें ? सियालकोट में बड़ी भारी इनकी फर्म है। मैं महीने भर में अच्छी तरह पता लगा लिया है। हज़ारों का तो इनकी यहाँ लेन-देन है। उन्हें कुछ बहू की बीमारी की ओर से आशंका थी। पूछते थे—उसका देहान्त किस रोग से हुआ ? सो भई मैंने तो यही कह दिया—दिक़-विक़ कुछ नहीं था, जिगर की बीमारी थी। (गर्व से) लाख हो, रौशन जैसा कमाऊ लड़का मिल भी कैसे सकता है ? बेकारों की फौज दरकार हो तो चाहे जितनी मर्ज़ी इकट्ठी कर लो। उस दिन लाला सुन्दरलाल अपनी लड़की के लिए कह रहे थे—कॉलेज में पढ़ती है। पर मैंने तो इनकार कर दिया।

मा—अच्छा किया। मुझे तो आयु-भर उसकी गुलामी करनी पड़ती—बच्चे को पूछते होंगे ?

पिता—हाँ, मैंने तो कह दिया—बच्चा है, पर मा की मृत्यु के बाद उसकी हालत ठीक नहीं रहती।

मा—तो आप हाँ कर दें।

पिता—हाँ, मैं तो शगुन ले लूँगा।

[चले जाते हैं। हुक्के की आवाज़ दूर होते-होते गुम हो जाती है। मा

खुशी-खुशी कमरे में घूमती है, कमरे में भापी आता है और तेजी से निकल जाता है।]

मा—भापी!

भापी—मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ!

[तेजी से चला जाता है। बीमार के कमरे से सुरेन्द्र निकलता है।]

सुरेन्द्र—मा जी!

मा—क्या बात है?

सुरेन्द्र—दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो!

मा—क्या?...

[आँखें फाड़े उसकी ओर देखती रह जाती है। हवा की साँय-साँय]

सुरेन्द्र—अरुण इस संसार से जा रहा है!

[फानूस टूटकर धरती पर गिर पड़ता है। मा भागकर दरवाजे पर जाती है।]

मा—रौशी, रौशी!

[दरवाजा अन्दर से बन्द है।]

मा—रौशी, रौशी!

रौशन—(कमरे के अन्दर से भर्राये स्वर में) क्या बात है!

मा—दरवाजा!

रौशन—तुम पहले लक्ष्मी का स्वागत कर लो!

मा—रौशी!

....

मा—रौशी!

[बाईं ओर के दरवाजे के बाहर से खँखारने की और हुक्के की आवाज]

पिता—(सीढ़ियों से ही) रौशन की मा, बधाई हो!

[रौशन के पिता का प्रवेश। मा उनकी ओर मुड़ती है।]

पिता—बधाई हो मैंने शगुन ले लिया।

[कमरे का दरवाजा खुलता है, मृत बालक का शव लिये रौशन का प्रवेश]

रौशन—हाँ, नाचो, गाओ, बाजे बजाओ !

[पिता के हाथ से हुक्का गिर जाता है और मुँह खुला रह जाता है ।]

पिता—मेरा बच्चा ! (वहीं बैठ जाता है ।)

मा—मेरा लाल ! (रोने लगती है ।)

सुरेन्द्र—भाजी, जाकर दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो !

पर्दा



उस पार

['उस पार' एक लम्बा रोमैन्टिक नाटक है। इसे एकांकी नाटक की श्रेणी में रखना कठिन है। एकांकी जीवन अथवा व्यक्तित्व के किसी एक पहलू को चुनकर उस पर प्रकाश डालता है। 'उस पार' का कथानक निरन्तर आगे बढ़ता है, जैसे किसी उपन्यास अथवा लम्बे नाटक में।

वर्माजी हिन्दी के नवयुवक कलाकार हैं। आपकी कहानी 'पगदंडी' ने सर्वप्रथम हिन्दी-संसार का ध्यान आपकी ओर आकर्षित किया। 'पगदंडी' में वर्माजी के सरस हृदय के वही गुण हमें मिलते हैं, जिनका सिक्का 'उस पार' पर भी है। आपकी भाषा का प्रधान गुण काव्य-रस है। आपकी लेखनी कल्पना और भाव-व्यंजना पर विशेष अधिकार रखती है।]

कमलाकान्त वर्मा

पुरुष-पात्र

पारिजात : नंदन के महाराज
मंदार : पारिजात के छोटे भाई
देवदास : मंदार के मित्र
विनायक : पुष्पा का विद्रोही सरदार

स्त्री-पात्र

लवंगलता : विनायक की पोती
अपराजिता : मंदार की मित्र और एक राजकुमारी
माधवी : लवंगलता की सखी

प्रथम-दृश्य

[एक सघन वृक्ष के नीचे पत्थर की शिला पर अधलेटे-से राजकुमार मंदार आकाश की ओर देख रहे हैं। राजकुमारी अपराजिता लताओं में से फूल तोड़ रही है।]

अपरा०—क्या सोच रहे हो राजकुमार ?

मंदार—ऊँ...

अपरा०—क्या सोच रहे हो ? बोलो !

मंदार—यही तो मैं भी समझना चाहता हूँ कि क्या सोच रहा हूँ।

अपरा०—यह समझने के लिए भी क्या प्रयत्न करना पड़ता है ?

मंदार—मैं स्वयं नहीं जान पाता कि क्या सोचा करता हूँ। सभी के लिए सोचना शायद एक क्रिया है, मेरे लिए यह जीवन है।

अपरा०—क्रियाओं की समष्टि का नाम ही तो जीवन है ? क्या तुम क्रिया को जीवन से भिन्न समझते हो ?

मंदार—समझता भी हूँ और नहीं भी। प्रत्येक क्रिया विशाल जीवन का ही एक अंश है, इसलिए वह उससे भिन्न कैसे हो सकेगी ?

किन्तु जो क्रिया जीवन के साथ आती है और साथ ही जाती है, जो अनुभूति और चेतना की संकुचित परिधि को लाँघकर अस्तित्व का ही एक अंश हो जाती है, उसे तुम दूसरे शब्दों में जीवन भी कह सकती हो। और सोचना भी इसी प्रकार शायद मेरा जीवन ही हो गया है।

अपरा०—फिर भी सोचने के लिए विषय की आवश्यकता तो होगी ही ?

मंदार—हो भी सकती है, नहीं भी। विषय की अनिवार्य आवश्यकता तो तभी होती है जब मनुष्य स्वेच्छा से कोई अभिप्राय लेकर कुछ जानने की या किसी परिणाम तक पहुँचने की सक्रिय चेष्टा करता है। मेरे सोचने का न तो कोई कारण है, न अभिप्राय; न आदि न अन्त। यह तो वैसा ही है जैसे...

अपरा०—कोयल का कूकना, नदी का बहना, या चाँदनी का आसमान से टूटकर पृथ्वी पर बिखर पड़ना—क्यों ?

मंदार—हो सकता है।

अपरा०—किन्तु यह तो बचपन की सुनी हुई पहेलियों का-सा हो गया, जो मैं कुछ समझ ही न पाई—

मंदार—जो मैं स्वयं नहीं समझ पाता, उसे तुम्हें कैसे समझाऊँ अपराजिता ?

अपरा०—फिर भी यह तो तुम मानोगे ही कि जीवन में सोचने से ही काम नहीं चलता।

मंदार—इसकी सबसे बड़ी विशेषता तो यही है। यह अन्तर्धारा है। इससे मेरे जीवन की किसी क्रिया से कभी संघर्ष नहीं होता। मैं युद्ध करता हूँ, गाता हूँ, स्वप्न देखता हूँ, और फिर भी जान पड़ता है कुछ-न-कुछ सोचता रहता हूँ। सोचना और साँस लेना दोनों मेरे लिए बराबर हैं।

अपरा०—तुम्हारी जिन क्रियाओं से इसका संघर्ष नहीं होता, शायद...शायद उनमें मेरी बातें सुनना शामिल नहीं है।

मंदार—तुम्हारी कौन-सी बात नहीं सुनी मैंने ?

अपरा०—यदि तुमने सुनी होती तो यह नहीं पूछते। मंदार, एक बात पूछूँ तुमसे ?

मंदार—पूछो...

अपरा०—नहीं, रहने दो, मैं नहीं पूछूँगी।

मंदार—क्यों नहीं पूछती ?

अपरा०—जो अपने मन की बात नहीं समझ पाता, वह दूसरे के मन की बात क्या समझेगा !

मंदार—फिर भी...

अपरा०—नहीं, जाने दो। हाँ, यह तो बताओ, जल-प्रपात देखने कब चलते हो ?

मंदार—जल-प्रपात देखने ?...नहीं, मैं नहीं जा सकूँगा, अपराजिता !

अपरा०—सो क्यों ?

मंदार—कल मैं स्वदेश जा रहा हूँ।

अपरा०—कल ? तुमने मुझसे तो कुछ कहा नहीं ?

मंदार—तुम्हारे पिताजी से कह दिया है।

अपरा०—फिर मुझसे क्यों नहीं कहा ?

मंदार—तुमसे भी...

अपरा०—किंतु, कल तुम स्वदेश जा रहे हो, यह कैसे हो सकता है ?

मंदार—जाना ही पड़ेगा, भैयाजी ने बुलाया है।

अपरा०—मैं नहीं जाने दूँगी। ऐसा कौन-सा काम है ?

मंदार—पुष्पा की प्रजा ने विद्रोह किया है। उसी का दमन करने के लिए भैयाजी बड़ी सेना लेकर विशाखा के तट पर आये हैं। मैं उनसे वहीं मिलूँगा, फिर जहाँ आज्ञा होगी जाऊँगा।

अपरा०—इतनी बातें हो गई और तुमने मुझसे कुछ भी नहीं कहा ?

मंदार—तुम्हें सुनकर दुःख होगा, इसी लिए नहीं कहा।

अपरा०—दुःख होगा ? क्यों दुःख होगा ? तुम स्वदेश जा रहे हो इसमें मेरे लिए दुःख की कौन-सी बात है ?

मंदार—तुम स्त्री हो। युद्ध की बात सुनकर तुम्हें संभवतः दुःख

हो, यही सोचकर मैंने कुछ नहीं कहा था। हो सकता है मेरा अनुमान गलत रहा हो।

अपरा०—मंदार, तुम जा रहे हो? क्या सचमुच जा रहे हो?

मंदार—जान तो ऐसा ही पड़ता है।

अपरा०—और...फिर लौटोगे कब?

मंदार—अपराजिता, तुम भूल रही हो कि मैं युद्ध में जा रहा हूँ। जो लड़ने जाता है, वह यह नहीं कह सकता कि वह कब तक लौटेगा।

अपरा०—ओ मा! ऐसा भी होता है? फिर मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी।

मंदार—तुम्हारे राज्य में विद्रोह होने पर क्या पुरुष घरों में चूड़ियाँ पहनकर बैठते हैं?

अपरा०—मंदार, मेरे देश के वीरत्व का अपमान मत करो। हमारे देश के स्त्री-पुरुष कर्त्तव्य के सामने प्राणों की परवा नहीं करते। जानते हो, पिता के साथ तीन बार युद्ध-क्षेत्र में जाकर मैं तलवार उठा चुकी हूँ?

मंदार—जानता हूँ, और यही जानकर तो मैं पूछ रहा हूँ कि तुम...

अपरा०—मंदार, मेरे साथ तर्क मत करो, मुझे खिझाओ मत...

मंदार—यह क्या अपराजिता? तुम तो रो रही हो? अरे...

अपरा०—तुम जा रहे हो, क्या सचमुच जा रहे हो?

मंदार—इसका उत्तर मैं क्या दूँ अपराजिता!

अपरा०—मुझे विश्वास नहीं होता। भ्रम-सा हो रहा है। क्या तुम जा रहे हो? सच!

मंदार—हाँ अपराजिता, मैं सचमुच जा रहा हूँ।

अपरा०—इतनी जल्दी? और सदा के लिए? नहीं...नहीं... मंदार, तुम झूठ बोल रहे हो, मुझे खिझा रहे हो, मुझे रुलाने के लिए ऐसा कहते हो।

मंदार—अपराजिता, तुम मुझे इतना निष्ठुर समझती हो?

अपरा०—मंदार!

मन्दार—अपराजिता!

अपरा०—......

मंदार—बोलो !

अपरा०—...

मन्दार—अपराजिता, चुप क्यों हो ? क्या कह रही थी ? बोलो !

अपरा०—...

मन्दार—मैं युद्ध में जा रहा हूँ, इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं मरने ही जा रहा हूँ, फिर भी युद्ध युद्ध ही है। मेरी एक बात सुनोगी अपराजिता ?

अपरा०—कहो।

मंदार—कई बार मैंने सोचा कहूँ, कहूँ; पर कह नहीं सका। शब्द ही नहीं मिले, जो मिले वे ओठों पर से आकर लौट गये। अपराजिता, मैं...मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। मैं जानता हूँ, रमणी के रूप में तुम देवी हो। तुम उषा से भी सुन्दर, ओस-कण से भी निर्मल और बसन्त से भी अधिक मादक हो; तुम्हारा स्नेह पाना ससगरा पृथ्वी के एकातपत्र प्रभुत्व पाने से भी अधिक प्रशस्त है। किन्तु अपराजिता !...मैं सच कहता हूँ, मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ।

अपरा०—यह सब तुम किसलिए कह रहे हो ?

मंदार—इसलिए...इसलिए...कि तुम मुझे भूल जाओ।

अपरा०—इससे तुम्हें कोई लाभ होगा ?

मंदार—यदि मैं समझ सकूँ कि तुम मुझे बिलकुल भूल गई, तो मेरा हृदय कुछ हलका हो सकेगा। कारण यह है कि...

अपरा०—रुक क्यों गये ?

मंदार—तुम सुनना चाहती हो ?

अपरा०—कहते जाओ।

मंदार०—इसका कारण...कारण मैं स्वयं ठीक से नहीं समझता... किन्तु...

अपरा०—यह कि तुम...

मंदार—ठहरो, मुझे कहने दो। बहुत सोचकर मैंने अन्त में यह

निर्णय किया है कि मुझे तुमसे दूर ही रहना पड़ेगा। और इसका कारण यही है, अपराजिता, कि मैं तुम्हारे लिए नहीं बना हूँ। मैं क्या कहूँ, किसके लिये बना हूँ, यह आज तक मैं नहीं समझ सका। फिर भी जिसके लिये हूँ, वह तुम नहीं हो, इतना समझ में आता है। मेरी पाशविक स्पष्टता के लिये मुझे क्षमा करो। मैं जानता हूँ, तुम परमात्मा की अनुपम रचना हो, एक निधि हो, विभूति हो। आकाश-कुसुम भी तुम्हारे सामने सस्ता है। किन्तु अपराजिता...

अपरा०—मंदार, जो तुम कहना चाहते हो, वह तुम्हारे बिना कहे भी मैं अच्छी तरह समझ सकती हूँ। तुम मुझसे प्रेम नहीं करते, इस छोटे-से सत्य को विशाल शब्दाडम्बर में ढँकने की व्यर्थ-चेष्टा क्यों कर रहे हो ?

मंदार—जिसे तुम सत्य समझ रही हो, उससे बढ़कर असत्य और कुछ नहीं हो सकता, यही समझाने के लिये मैं शब्दों में अपने हृदय को अँटाकर तुम्हारे सामने रख देना चाहता हूँ...फिर भी मैं जो कहना चाहता हूँ शायद वह कह नहीं सकूँगा। मेरी स्थिति की विवशता, मेरे अन्तर की व्यथा, शब्दों में नहीं अँटती। मैं तुम्हें क्या समझाना चाहता हूँ, सत्य क्या है, यह शायद किसी दिन किसी अचिन्त्यपूर्व घटना से तुम्हारी समझ में आ जाय...किन्तु मैं चाहता हूँ कि उससे पहले ही तुम मुझे भूल जाओ।

अपरा०—मंदार तुम ईश्वर को धन्यवाद दो कि उसने तुम्हें स्त्री न बनाकर पुरुष बनाया। यदि मेरे भी पुरुष का हृदय होता तो...किन्तु... किन्तु...कुमार, एक बात का उत्तर दोगे ?

मन्दार—पूछो।

अपरा०—तुम्हें इसका उत्तर देने में यदि कोई संकोच हो तो मैं बाध्य नहीं करूँगी।

मन्दार—नहीं-नहीं पूछो; मैं उत्तर अवश्य दूँगा।

अपरा०—तुमने कभी किसी से प्रेम किया है ?

मन्दार—बचपन में मैंने एक हरिण पाल रखा था। उसे मैं अपने

हाथों से दूध पिलाता और साथ ही लेकर सोता था। मुझे याद है, मैं उसके मरने पर बहुत रोया था। और...

अपरा०—कुमार, तुम परिहास कर रहे हो ?

मंदार—अपराजिता, प्रेम को जिस अर्थ में तुम समझती हो, वह अर्थ आज तक मेरी समझ में नहीं आया। चेष्टा करने पर भी मैं प्रेम को नहीं समझ सका।

अपरा०—और यही कारण है कि तुम मुझसे भूल जाने को कहते हो। यदि तुम जान पाते कि...मंदार, यदि तुम्हारी इच्छा यही है, तो मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि आज से मैं तुम्हें भूल जाने की चेष्टा करूँगी। किन्तु, तुम भी एक प्रतिज्ञा करो।

मंदार—कौन-सी प्रतिज्ञा ?

अपरा०—यही कि जिस दिन तुम्हें किसी से प्रेम हो उसी दिन मुझे भी बुलाना। मैं चाहे जहाँ भी रहूँगी, आकर तुम्हारी प्रेयसी को देखूँगी...और...और...अपने हाथों से उसका शृंगार करूँगी। मैं भी उससे प्रेम करूँगी। बोलो, प्रतिज्ञा करते हो ?

मंदार—ऐसे दिन की आशा नहीं है।

अपरा०—फिर भी...प्रतिज्ञा करो।

मंदार—मैं प्रतिज्ञा करता हूँ अपराजिता, कि जिस दिन मैं प्रेम करूँगा उस दिन तुम्हें सूचना दूँगा। किन्तु वह दिन आयेगा, इसकी आशा नहीं है।

अपरा०—मैं सोते-जागते उस दिन की प्रतिक्षा करूँगी और जिसमें तुम्हारे हृदय को शान्ति मिल सके इसलिए तुम्हें भूल जाने की चेष्टा भी करूँगी। मंदार, बताओ तुम और क्या चाहते हो ?

मंदार—मैं अपने आपसे लज्जित हूँ। अपराजिना, मैं चाहता हूँ तुम मुझे हृदय से क्षमा कर दो।

अपरा०—क्षमा कर दूँगी मंदार, पर अभी नहीं। क्षमा कर देने से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, अधिकार की अन्तिम शृंखला भी टूट जाती है। जिस दिन तुम्हारी प्रेयसी का शृंगार करके तुम्हारे पास

बिठाकर तुम दोनों को भर-आँख देख लूँगी, उसी दिन तुम्हें हृदय से क्षमा कर दूँगी। और फिर तुम्हारे संसार से सदैव के लिए निकल जाऊँगी। तुम्हारे स्वप्नों पर भी अपराजिता की छाया न पड़ने पावे, इसलिए विस्मृति के सघन कुहासे में जाकर डूब, जाऊँगी। मंदार, तुम्हारे हृदय की शान्ति ही मेरी शान्ति भी है और...हाँ...तुमने अभी तक मेरी पक्षिशाला तो देखी ही नहीं ?

मंदार—अपराजिता...

अपरा०—और यह लो, आज सन्ध्या-समय रंग-भवन चलने की बात भी तो थी ? चलो चलते हो न ?

मंदार—चलो।

[दोनों जाते हैं।]

दूसरा दृश्य

[विशाखा नदी का तट। एक अशोक वृक्ष के नीचे एक बड़े चित्रपट पर लवंगलता बड़े मनोयोग से एक चित्र बना रही है। लवंग पुरुष-वेश में है! केवल सर की चोटी नीचे लटककर उसके स्त्री होने की सूचना दे रही है। लवंग गा रही है।]

[माधवी आकर पीछे से उसकी आँखें मुँद लेती है।]

लवंग—कौन भामा ? सरला ? गोदावरी ? कौन है ? बोलती क्यों नहीं री ? अच्छा ठहर तो ! (रंग की कूची उसके शाल में लगाना चाहती है, माधवी छोड़ देती है) कौन माधवी ? अरी तू यहाँ कब आई ?

माधवी—मैं तो बराबर यहीं थी—

लवंग—सुना तू मधुपूर गई थी।

माधवी—मैं चली जाती वो फिर तेरे दूल्हे की आवभगत कौन करता ?

लवंग—मेरा दूल्हा !

माधवी—और नहीं तो क्या मेरा ? स्वर्णभद्र के महामात्य का लड़का कल जो यहाँ आ रहा है, उससे क्या मेरी ही सगाई ठीक होगी ?

लवंग—अच्छा, यह मेरा दूल्हा बनने आ रहा है? हूँ...अब समझी...

माधवी—क्या समझी?

लवंग०—सुन, आज दादाजी से जब मैंने कहा कि मैं अमराई जा रही हूँ तो वे बहुत नाराज़ हुए, बोले—इतनी दूर अकेली जाना ठीक नहीं। इस पर मैंने कहा कि मैं तो वहाँ रोज़ ही जाती हूँ आज कौन-सी नई बात हो गई? तब उन्होंने पूछा, किस लिए जा रही है? मैंने कहा, मैं वहीं चित्रकला का अभ्यास करती हूँ। इस पर वे ख़ुश हो गये और कहा, अच्छी बात है, एक चित्र मैं भी देता हूँ, तू इसका प्रतिन्यास बना दे। जब मैंने पूछा, यह चित्र किसका है? तो वे गर्व और उल्लास से बोले, स्वर्णभद्र के महामात्य के लड़के का। और तभी मैंने समझा कि अवश्य कुछ दाल में काला है।

माधवी—और यह वही चित्र है क्या?

लवंग—दुर पगली! तू समझती है, मैं सचमुच उसके चित्र का प्रतिन्यास बनाऊँगी? उसके मुँह में आग नहीं लगा दूँगी? मूर्ख बंदर कहीं का!

माधवी—तो क्या वह तुझे पसन्द नहीं?

लवंग—सुन, तू दादाजी से कह देना कि यदि उन्होंने मेरे विवाह की बातचीत की तो मैं विशाखा में डूबकर प्राण दे दूँगी, समझी?

माधवी—क्या तू विवाह ही नहीं करेगी?

लवंग—मेरे विवाह के लिए तेरा सर क्यों दर्द करने लगा?

माधवी—ज़रा सुनूँ तो? तू जन्म-भर क्वाँरी ही रहेगी?

लवंग—क्या क्वाँरी रहना पाप है?

माधवी—नहीं तो, किन्तु तपस्या तो है?

लवंग—पक्षी यदि पिंजड़े से बाहर रहना चाहे तो क्या यह तपस्या हुई?

माधवी—विवाह पक्षी का पिंजड़ा नहीं, नीड़ है, यदि रात को वह उसके बाहर ही सो रहना चाहे, तो क्या यह तपस्या नहीं हुई?

लवंग—रात आ गई, यह तूने कैसे जाना?

माधवी—यह तो तू अपने संध्या के तारों के समान एक-एक करके उगते हुए यौवन-चिन्हों से ही पूछ।

लवंग—हूँ...अच्छा, तू अभी जा, मुझे यह चित्र बनाने दे।

माधवी—चित्र! अच्छा इतने प्रेम के साथ तू यह चित्र किसका बना रही है?

लवंग—तू सुनेगी?

माधवी—अवश्य सुनूँगी।

लवंग—अपने स्वप्नों के देवता का, कल्पना-लोक के राजपुत्र का, अस्थि-चर्म-रक्त-मांस के मनुष्य का नहीं, कला के वर-पुत्र का, और लेकिन...माधवी, तू जा। मैंने जो तुझसे कहा है, दादाजी से कह देना। मुझे बहुत काम है।

[चित्र बनाने लगती है।]

माधवी—लेकिन मैं तो कुछ नहीं समझी।

लवंग—इसी से तो कहती हूँ कि जो तू समझेगी ही नहीं, उसे सुनकर क्या करेगी?

माधवी—(चित्र को निकट से देखकर) लवंग, एक बात मैं कहूँ?

लवंग—खुशी से।

माधवी—अपने स्वप्नों के देवता, कल्पना-लोक के राजपुत्र...और क्या कहाँ?...हाँ तो उससे तो सौगुना अधिक तू ही सुन्दर है। सच कहती हूँ, यदि तू पुरुष होती तो...

लवंग—तो क्या होता?

माधवी—(लवंग की चोटी भीतर करके उसे मुकुट पहनाती हुई) तो...अब तक तेरे प्रेम मे सैकड़ों स्त्रियाँ विशाखा में डूब मरी होतीं, कितनी ही पागल हो गई होतीं और मैं तो तुझे एक पल के लिए भी आँखों की ओट नहीं करतीं।

लवंग—तब तो ईश्वर को धन्यवाद देना है कि पुरुष न होकर मैं स्त्री ही हुई, नहीं तो कितनी हत्याएँ मेरे सर पड़तीं!

माधवी—ओ होने पर भी कितनी हत्याएँ तेरे सर पड़ेंगी, इसका क्या ठिकाना ?

लवंग—अच्छा भाग यहाँ से, नहीं तो पहली हत्या तेरी ही होगी। और सुन, दादाजी से कह देना कि...

माधवी—कि लवंग बड़े मनोयोग से अमराई में पुष्पा के मंत्री-पुत्र के चित्र का प्रतिन्यास बना रही है, यही तो ?

लवंग—मैं तेरे मुँह में आग लगा दूँगी...मुँहझौंसी कहीं की...

[माधवी जाती है।]

[लवंग चित्र को एक बार ग़ौर से देखकर गुनगुनाती है और रंग घोलती है, इतने में एक मृग-शावक हाँफता हुआ आकर उसके सामने कूद पड़ता है। लवंग चौंककर विस्मय से चारों ओर देखने लगती है और फिर तुरन्त पास में पड़े हुए एक बड़े धनुष को उठा लेती है और उस पर एक बाण चढ़ा लेती है। नदी तट से होकर एक वाराह भागा जा रहा है, लवँग निशाना ताककर बाण चलाती है। बाण बाराह को लगता है और वह एक बार गुर्राकर उछलता है और फिर मरकर ढेर हो जाता है। इतने में ही एक बाण उसके कान के पास से सनसनाता हुआ आकर चित्र-पट को छेदकर घुस जाता है। लवंग चौंक उठती है। वह दूसरा बाण उठाती है। इतने में ही घोड़े पर चढ़े हुए अश्वारोही के वेष में महाराज पारिजात प्रवेश करते हैं। महाराज घोड़े पर से उतरकर मरे हुए वाराह को देखने लगते हैं। लवंग धनुष-बाण रख देती है और कूँची लेकर रंग मिलाने लगती है। जब वह दृष्टि उठाती है तो देखती है कि महाराज पसीने से तर उसके सामने खड़े हैं।]

महाराज—तुम कौन हो ?

लवंग—(आश्चर्य से उन्हें देखती हुई निरुत्तर रह जाती है।)

महा०—इस बाराह पर बाण चलाने का तुम्हें क्या अधिकार था ?

लवंग०—बाराह किसी का ख़रीदा हुआ नहीं होता, जो मारता है उसी का होता है।

महा०—किन्तु मेरे बाराह पर तुमने बाण चलाया क्यों ?

लवंग०—इसका उत्तर तुम्हारा वह बाण देगा, जो उस वृक्ष में धँसा हुआ है। वह देखो...

महा०—तुमने अपराध भी किया और अब अपमान भी कर रहे हो ?

लवंग०—जितना ध्यान तुम्हें मानापमान का है, उतना यदि लक्ष्य-कौशल होता तो इतनी झंझट नहीं होती।

महा०—जानते हो, तुम किससे बातें कर रहे हो ?

लवंग०—(रंग मिलाते हुए) यह जानने का मुझे न तो अवकाश है, और न इच्छा।

महा०—युवक तुम्हारे प्राण तुम्हारी जीभ पर नाच रहे हैं, सम्हल-कर बातें करो।

लवंग०—अच्छा अभी और बा करनी हैं ? शायद तुम मुझसे कोई शास्त्रार्थ करना चाहते हो

महा०—मैं पूछता हूँ, यह बाराह तो तुम्हारे पथ में नहीं था, तुमने इस पर बाण क्यों चलाया ?

लवंग०—और मैं पूछता हूँ कि तुम यह पूछनेवाले होते हो कौन ?

महा०—मैं कौन हूँ, इसका उत्तर मेरी तलवार देगी।

लवंग०—और तुम्हारी जीभ क्या कहीं घास खाने गई है ?

महा०—सावधान ! इस अपमान के लिए मैं तुम्हें द्वन्द्व-युद्ध के लिए चुनौती देता हूँ। तैयार हो जाओ !

लवंग—द्वन्द्व-युद्ध ! ठहरो मैं यह चित्र पूरा कर लूँ, जब तक तुम उस मरे हुए बाराह का निरीक्षण करो।

[रंग की कूँची उठाकर चित्र की ओर बढ़ती है]

महा०—युवक, मैं तुम्हें आघात करने का अवसर देता हूँ। मुझे पहले शस्त्र चलाने के लिए बाध्य मत करो।

लवंग०—(हँसकर) मैं सच कहता हूँ, यदि यह चित्र मुझे नहीं बनाना होता तो मैं तुमसे और भी बातें करता। फिर भी मेरा काम जरूरी है। तुम्हें ठहरना ही पड़ेगा। समझे ?

महा०--सब कुछ ठहरता है, मृत्यु नहीं ठहरती। बातें हो चुकीं, अब तो युद्ध ही होगा।

लवंग०--छिः! जो एक बाराह नहीं मार सकता, उसे युद्ध का इतना आग्रह! तलवार का इतना गर्व! हिंसा के व्यवसाय को वीरता नहीं कहते। युवक, मैं इतना ही कहूँगा कि तुम्हें संसार में अभी बहुत कुछ सीखना है। जाओ, वह मरा हुआ वाराह लेकर घर लौट जाओ। कहना, मैंने ही शिकार किया है।

[चित्र की ओर बढ़ती है।]

महा०--तुमने आघात नहीं किया, अब मेरा वार सँभालो। सावधान!

[महाराज तलवार निकालकर चित्र पर मारते हैं। चित्र कटकर गिर पड़ता है। लवंग सावधान होकर पास में रखा हुआ भाला उठा लेती है। भाला उठाकर वह महाराज की ओर तानती है। जब तक भाला पहुँचे-पहुँचे तब तक घूमकर बाएँ हाथ से महाराज भाला पकड़ लेते हैं और उसे छीनकर फेंक देते हैं। लवंग तलवार उठा लेती है। महाराज उसका वार रोककर भरपूर आघात करते हैं, तलवार टूट जाती है। टूटी हुई तलवार फेंककर लवंग धनुष उठाना चाहती है, तब तक महाराज बाएँ हाथ से उसे झटका देते हैं। वह लड़खड़ाकर गिर पड़ती है। सर पत्थर के एक टुकड़े से टकरा जाता है और रक्त निकलने लगता है। उसकी छाती से तलवार की नोक सटाकर महाराज खड़े हो जाते हैं।]

महा०--वीर युवक, अब भी समय है। तुम क्षमा माँग लो। मैं तुम्हें प्राणदान दे दूँगा।

लवंग--(उठने की चेष्टा करती हुई कष्ट से) तलवार की नोक के नीचे क्षमा माँगना या मँगवाना दोनों ही कायरता है। आह...तुम जीते...मैं हारी। फिर भी...फिर भी...इससे क्या! मैं क्षमा नहीं माँग सकती...आह...ओ मा...

[गिर पड़ती है, सर का मुकुट गिर पड़ता है। लम्बे-लम्बे काले

बाल लहराने लगते हैं। महाराज विस्मित हो तलवार फेंककर घुटने के बल बैठ जाते हैं।]

महा०—अरे...यह तो स्त्री जान पड़ती है! (नाक पर हाथ रखते हैं। फिर छाती पर हाथ रखते हैं, किन्तु तुरन्त हटा लेते हैं) भगवन्, यह क्या हुआ ?

[खून रोकने के लिए दुपट्टा चीरकर उसके सर में बाँधते हैं।]

महा०—आँखें रहते मैं अन्धा हो गया! पपीहे-सा स्वर, लता-सी देह, इतना हठ, इतनी उपेक्षा-पूर्ण हँसी देख और सुनकर भी मैं नहीं समझ सका! ईश्वर! क्षमा करो। होश में कैसे लाऊँ ? कहीं पानी भी तो नहीं है ?

[उसे उठाकर कंधे पर रखते हैं, फिर घोड़े पर चढ़कर जाते हैं।]

तीसरा दृश्य

[स्थान—बन-पथ। राजकुमार मन्दार सैनिक वेष में टहल रहे हैं। साथ में अमात्य-पुत्र देवदारु है।]

मंदार—समझते हो देवदारु ? प्रत्येक जीवन किसी प्रश्न का उत्तर है। आकाश और काल का अनन्त विस्तार प्रश्नों का एक सागर है। तारों की झिलमिल में, भौंरों के गुञ्जार में, पपीहे की रट में, जेठ की दुपहरी की लू में, पावस के काले बादलों में, घासों में बिखरकर चमकते हुए ओसकणों में, ज़र्रे-ज़र्रे में एक जिज्ञासा है, एक प्रश्न है। सागर की तरंगों की तरह जीवन प्रश्न बनकर उठता है और उत्तर बनकर गिर पड़ता है। प्रश्नों और उत्तरों की इसी अनंत शृंखला का नाम है संसार।

[एक सैनिक का प्रवेश।]

सैनिक—राजकुमार की जय हो!

मन्दार—क्या समाचार है ?

सै०—महाराज का पत्र आया है।

मन्दार—(पत्र लेकर) महाराज कहाँ हैं ?

सै०—विशाखा-तट पर, आनन्द-मन्दिर में।

देवदारु—आनन्द-मंदिर में ? विद्रोही सरदार के घर पर ?

मंदार—(पत्र पढ़ते हुए) ईश्वर की कृपा से युद्ध टल गया। पुष्पा की प्रजा ने अधीनता स्वीकार कर ली। मैं विनायक का अतिथि बनकर विशाखा-तट पर आनन्द-मन्दिर में ठहरा हुआ हूँ। पत्र पाते ही मुझसे मिलो।

देवदारु—आश्चर्य !

मंदार—आश्चर्य अज्ञान का ही दूसरा नाम है, यह मैं अब समझ रहा हूँ। सैनिक।

सै०—श्रीमन् !

मंदार—जाओ, सेनापति को भेज दो।

सै०—जो आज्ञा।

[जाता है।]

मंदार—बड़ी खुशी का समाचार है। युद्ध होते-होते रुक गया। किंतु...ऐसा हुआ कैसे ?

देव०—जान पड़ता है महाराज ने रक्तपात के भय से विद्रोहियों की शर्तें मञ्जूर कर लीं। अन्यथा संधि का होना संभव नहीं था।

मंदार—जो हुआ, अच्छा ही हुआ। भैयाजी ने सोच-विचारकर ही संधि की होगी। अपराजिता को पत्र लिख देना होगा...वह घबड़ाती होगी। (एक फूल तोड़कर सूँघता है, फिर उसे मसलकर फेंक देता है।) अपराजिता...अपराजिता ! कैसा कवित्वपूर्ण नाम है। स्निग्ध... सरस...सुन्दर....किन्तु...

देव०—किन्तु क्या राजकुमार ?

मन्दार—किन्तु मुझसे बहुत दूर। मेरे हृदय के सूनेपन में वह तस-वीर अँटती ही नहीं, मेरी अन्तर्वीणा से उसका स्वर मिलता ही नहीं... और फिर भी...फिर भी...वह मुझसे प्रेम करती है।...

देव०—कुमार, प्रेम तो मलय चन्दन है। जहाँ तक उसका सौरभ जाता है, वहाँ तक वही रहता है। प्रेम के स्पर्श से हृदय की दूसरी भावनाएँ भी...

मन्दार—यही तो मैं भी सोचता हूँ। प्रेम को क्या कहूँ ? ध्वनि या

प्रति-ध्वनि, उपहार या प्रतिदान, वेदना वा समवेदना ? मुझे उसके प्यार पर प्यार आता है। किन्तु इसे क्या प्यार कह सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा ?

[सेनापति का प्रवेश।]

सेना०—कुमार की जय हो !

मंदार—सेनापति, बड़ी ख़ुशी का समाचार है। विद्रोह शान्त हो गया। युद्ध नहीं होगा। महाराज ने हमें आनन्द-मंदिर में बुलाया है।

सेना०—मैंने सब कुछ सुना है साथ ही एक और भी शुभ-समाचार है।

मंदार—सो क्या ?

सेना०—पुष्पा की राज-कन्या नन्दन के विशाल साम्राज्य की स्वामिनी होगी।

देव०—क्या कहा ?

सेना०—विद्रोही सरदार की कन्या पर मुग्ध होकर महाराज ने उससे विवाह करने का निश्चय किया है। और...

मंदार—किंतु ऐसा हुआ कैसे ?

सेना०—जैसे संसार में सदा से होता आया है।

मंदार—मैं पूछ ता हूँ, राजकन्या से महाराज की मुलाक़ात हुई कैसे ?

सेना०—यही तो रहस्य है। शायद आनन्द-मन्दिर जाने पर पता चले।

मंदार—तो फिर युद्ध रुक जाने का कारण यही तो नहीं है ?

सेना०—संभव है।

देव०—और महाराज के आनंद-मन्दिर में आतिथ्य ग्रहण करने का कारण भी यही तो नहीं है ?

सेना०—जान तो ऐसा ही पड़ता है।

मंदार—नंदन और पुष्पा के संघर्ष का ऐसा मधुर अन्त होगा, यह कौन जानता था ? राजभवन का वातावरण वनदेवी की सुषमा से और

भी जगमग हो उठेगा। हीरे में कोमलता का सञ्चार हो जायगा, लोहे की तलवार में फूलों की मूठ लग जायगी। सेनापति, इस शुभ समाचार के लिए धन्यवाद!

सेना०—तो सेना को क्या आज्ञा दी जाय?

मन्दार—सेना तब तक यहीं विश्राम करेगी, जब तक हम लोग आनन्द-मन्दिर से लौट न आयें।

सेना०—जो आज्ञा।

[जाता है।]

मन्दार—जीवन की सहज ठोस सत्यताओं के सामने कवियों की सूक्ष्म कल्पनाएँ भी हार मानती हैं। कहाँ विद्रोह और फुफकारती हुई राज्य-सत्ता की दमन-नीति और कहाँ प्रणय और परिणय? मुझे कौतूहल होता है, यह वन-कन्या कैसी है?

देव०—अवश्य ही बहुत सुन्दरी होगी और केवल सुन्दरी ही नहीं चतुर भी। क्रोध और द्वेष की आग को एक ही फूँक में प्रणय-आग बना देना आसान नहीं है। रत्न और सुवर्ण के पिंजड़े में पले हुए पक्षी को घास-फूल के नीड़ में सुला देना किसी जादूगर का ही काम है। अवश्य यह मानवी के वेष में कोई अप्सरा ही उतर आई होगी।

मन्दार—अप्सरा! किन्तु अप्सरा भी क्या अपराजिता से अधिक सुन्दरी होगी? स्त्रीत्व के आदर्श की सतह क्या उससे भी ऊँची हो सकती है? यह तो कल्पनातीत-सा है...फिर भी...देखूँगा...कौन?

[एक सैनिक का प्रवेश।]

क्या है?

सैनिक—कुमार की जय हो! बड़े आश्चर्य का समाचार है।

मन्दार—क्या?

सै०—दो-तीन लड़कियाँ एक पेड़ के नीचे खेल रही थीं। वे पूजा करने का सामान जुटा रही थीं! एक फूल तोड़ रही थी, दूसरी झरने से पानी भरकर ला रही थी, तीसरी चन्दन रगड़ रही थी और...

देव०—हुआ क्या, सो क्यों नहीं कहते?

सै०—श्रीमान्, वही तो कह रहा हूँ। इसके बाद तीनों मिलकर गाने लगीं। उनके गाने की आवाज़ मुझे भी सुनाई पड़ी। मैं एक वृक्ष से फल तोड़ रहा था। किन्तु उनका गाना इतना सरस, मधुर और आकर्षक था कि मैंने सोचा देखूँ हुआ क्या!

मन्दार—मैं पूछता हूँ हुआ क्या?

सैनिक—देव! यही तो कहना चाहता हूँ। मैं वहाँ गया और एक वृक्ष की ओट में खड़ा होकर उनका गाना सुनने लगा। उनका स्वर इतना मोहक था और वे पूजा में इतनी तन्मय थीं कि...

मन्दार—उफ़!

सै०—कह रहा हूँ श्रीमन्...अन्त में उनकी पूजा समाप्त हुई। और वे घर जाने के लिए तैयार हुईं तब मैं बाहर निकल आया और जानना चाहा कि वे कौन हैं, इतने में ही...

देव०—एक बाघ झपट पड़ा क्यों!

सै०—नहीं; श्रीमन्, बाघ तो नहीं झपटा...

देव०—तो क्या धरती फट गई?

सै०—जी नहीं, श्रीमन्...यह भी नहीं...

मन्दार—तुम अपनी बात पूरी करो।

सै०—श्रीमन्! इतने में ही मेरी आँख उस चित्र पर पड़ी, जिसकी वे पूजा कर रही थीं और देखते ही मैं ठिठक गया, मुझे काठ-सा मार गया, मुझे जान पड़ा मेरी आँखों को धोखा हो रही है; तब मैंने आँखें मलकर देखा और...

देव०—क्या वह यमराज की तसवीर थी?

सैनिक—नहीं श्रीमन्...वह यही तसवीर थी।

[एक बड़ी तसवीर कुमार को देता है]

मन्दार—अरे...यह तो मेरी तसवीर है!

सै०—जी हाँ, श्रीमन्!

देव०—देखूँ...

मन्दार—यह तुमने कहाँ पाया?

सै०—श्रीमन् इसी चित्र की तो वे पूजा कर रही थीं।

देव०—असम्भव! यह चित्र यहाँ कहाँ से आया?

मन्दार—असम्भव जब सम्भव होता है, तभी तो आश्चर्य होता है।

देव०—महान् आश्चर्य! यह तसवीर अभी पूरी भी नहीं हुई है। जान पड़ता है कोई बना रहा था किन्तु पूरा नहीं कर सका।

मन्दार—सैनिक, तुमने लड़कियों से पूछा कि उन्होंने यह चित्र कहाँ पाया?

सै०—श्रीमन्, पूछा तो, किन्तु उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया; डरकर भाग गईं।

मन्दार—तुम उन्हें बुला ला सकते हो?

सै०—कह नहीं सकता...

मन्दार—तुम उन्हें पकड़ लाओ। मैं पुरस्कार दूँगा।

सै०—जो आज्ञा।

[जाता है।]

मंदार—इस विजन वन में मेरा चित्र? कैसी अद्भुत बात है?

देव०—इस चित्र का स्वरूप तो आपका है, किन्तु वेष-भूषा किसी अरण्यवासी की है। जान पड़ता है किसी ने वन्यजीवन के वातावरण में रखकर आपका स्वरूप चित्रित करने की कोशिश की है। किन्तु यह कौन हो सकता है?

मंदार—यह निविड निर्जन वन! इस जीवन में पहले यहाँ कभी आया होऊँ, ऐसा तो नहीं जान पड़ता। फिर संसार में मेरे लिए इतना स्नेह, इतनी कल्पना खर्च करके, जो इतनी लगन से मेरी याद चित्रपट पर बिछा सकता है, वह......उसे तो ठुकराकर क्षितिज के उस पार, इतनी दूर छोड़ आया हूँ। तब विश्व में दूसरा कौन...

देव०—कुमार! क्या आपका प्रेम अपराजिता का ही स्वत्व है?

मंदार—मालूम नहीं। फिर भी...जीवन में जहाँ ममत्व पाता हूँ, अपनापन देखता हूँ, वहाँ उसी की याद आती है।

देव०—क्या इसी का दूसरा नाम प्रेम नहीं है?

मंदार—कैसे कहूँ ? अपनी समझकर भी उसे अपना नहीं पाता, आँखों में बसकर भी वह अन्तर में नहीं टिकती। यह कैसा भ्रम है ? विकृत मस्तिष्क की कैसी उद्‌भ्रांत धारणा है ? छायामयी कल्पना की कैसी विषम माया है ? यह उलझन ! यह रहस्य !

[थोड़ी देर में सैनिक वापस आता है।]

मंदा०—पता लगा ?

सै०—जी नहीं श्रीमन् ! मैंने आदमी भेजे हैं, शायद कहीं पाता लग जाय।

मं०—अच्छा जाओ, पता लगे तो मुझे सूचित करना।

सै०—जो आज्ञा।

[जाता है।

देव०—आज खड़े-खड़े कितनी अद्‌भुत बातें सुन लीं। युद्ध रुक गया, महाराज वन-कन्या के प्रणय में बँध गये और फिर इस निर्जन वन में यह चित्र ! कैसा आश्चर्य है !

मंदार—नहीं समझते देवदारु ! अन्त में घूमकर बात वहीं तो पहुँचती है। यह जीवन और इसकी प्रत्येक घटना किसी प्रश्न का ही उत्तर। विश्वात्मा अपनी किसी चिर-संचित शंका का समाधान कर रही है, बहुत दिनों का मानो कोई अपना सन्देह मिटा रही है। मैं अपने लिए मैं हूँ, यह जीवन मेरा जीवन है ; तुम अपने लिए तुम हो, यह तुम्हारा जीवन है ; किन्तु उसके लिए ?...उसके लिए तो यह एक खेल है, उलझन को सुलझाने का एक झटका। उसके लिए मन्दार, पारिजात, अपराजिता या वनकन्या कुछ विन्दु या रेखाएँ हैं। इन्हें लेकर शायद कोई साध्य सिद्ध किया जा रहा है। जीवन कितना रहस्य-मय, कितना विचित्र है और साथ ही कितना सीधा-सादा, कितना सरल !

देव०—क्या आनन्द-मन्दिर आज ही चलना होगा ?

मंदार—आज ही नहीं अभी। और वहाँ से अपराजिता को एक पत्र भी लिखना होगा...सब कुछ...और यह भी कि इस विजन वन

के निविड़ गर्भ में मुझे एक अपना चित्र मिला है। क्या वह इस पर विश्वास करेगी?

[सोचता हुआ जाता है।]

चौथा दृश्य

[आनन्द-मन्दिर का प्रमोद-उद्यान। एक श्वेत पत्थर की शिला पर फूल बिछाकर लवंग अधलेटी-सी सोई है। बाल खुले हैं। माधवी पीछे बैठकर उसकी चोटी गूँथ रही है।]

माधवी—तेरी चोटी में जूही के ये फूल कैसे भले लगते हैं, मानो आसमान में तारे उगे हों। इस जंजीर में मनुष्य तो क्या, देवता भी एक बार बँधकर फिर मुक्त नहीं हो सकते लवंग!

लवंग—...

माधवी—देखा तूने, यह हरिण कैसा शरारती हो गया है, किसी से डरता ही नहीं। आज महाराज को छोड़ता ही नहीं था, आखिर उन्हें अपने हाथों इसे चावल खिलाना पड़ा। (कुछ रुककर) उफ़! कैसी गरमी है? यहाँ सघन छाया में भी देह जैसे झुलस रही है। फिर जिसे राजभवन में रहने का ही अभ्यास है, उसे कितनी गरमी लगती होगी? प्रेम जो न करे! लवंग, कैसा जी है?

लवंग—ऊँ!

माधवी—जी अच्छा तो है?

लवंग—अच्छी ही हूँ।

माधवी—जीवन में सुख के साथ दुःख और आह्लाद के साथ ही विषाद है। आज वनदेवी राजलक्ष्मी बनने जा रही है। किन्तु इस उल्लासमय सत्य का एक दूसरा पहलू भी है—वियोग, बिदाई, बिछुड़न! किन्तु लवंग, यह नारी-जीवन का अमर अभिशाप है। प्रसव-वेदना की तरह दुःसह होते हुए भी इसका अन्त मंगलमय है। विश्व के कल्याण के लिए नारी का सबसे पहला और सबसे बड़ा बलिदान यही है। कितना बड़ा मूल्य देकर स्त्री दुनिया बसाती है, इसे संसार क्या जाने? लवंग, तेरे पैर में महावर लगा दूँ?

लवंग—नहीं रहने दे।

माधवी—तेरे कंगन के फूल मुरझा गये, ला दूसरे फूल गूँथ दूँ।

लवंग—उँह, क्या होगा ?

माधवी—लवंग, आज तू इतनी उदास क्यों है, मेरी क़सम, सच बता।

लवंग—कुछ तो नहीं।

माधवी—मुझसे छिपाती है ? न बतायेगी ?

लवंग--क्या बताऊँ ? कुछ हो भी तो ?

माधवी—फिर तू ऐसी चुप क्यों है ?

लवंग—बोलती तो हूँ।

माधवी—बोलती तो है, लेकिन वीणा के शिथिल तार की तरह, जिसमें न कोई स्वर है, न स्पंदन। यह भी क्या कोई बोलना है ?

लवंग—तो फिर कैसे बोलूँ, तू ही बता।

माधवी—एक बात पूछूँ ?

लवंग—पूछ...

माधवी—तुझे...कोई दुःख है क्या ?

लवंग—...

माधवी—लवंग, तू अपने मन की बात मुझसे भी छिपायेगी ? अच्छा न बता।

लवंग—मैं तुझसे क्या छिपाती हूँ ?

माधवी—रहने दे, ये सब ऊपरी बातें हैं। तू तो मुझे ग़ैर समझती है, ख़ैर...

लवंग—माधवी, मुझे समझकर भी नहीं समझने का बहाना करती है ?

माधवी—समझने के लिए ही तो पूछती हूँ ?

लवंग—जो बात मैं स्वयं नहीं समझ पाती, वह तुझे कैसे समझाऊँ ?

माधवी—अपने मन की व्यथा समझ में न आवे यह तो एक नई बात है।

लवंग—नई बात है; इसी लिए तो और भी उलझन होती है।

माधवी—अच्छा मैं पूछती हूँ, तू उत्तर देगी?

लवंग—...

माधवी—तू महाराज को चाहती है या नहीं?

लवंग—चाहने का अर्थ?

माधवी—तुझे उनसे प्रेम है?

लवंग—प्रेम...इसे भी समझा।

माधवी—वे तुझे सुन्दर लगते हैं?

लवंग—फूलों से भी अधिक।

माधवी—वे वीर पुरुष हैं, ऐसा तुझे जँचता है?

लवंग—उनसे अधिक वीर पुरुष की मैं कल्पना भी नहीं कर सकती।

माधवी—उनकी प्रतिभा, उनकी उदारता, उनका सौम्यभाव अद्वितीय है, यह तू मानती है?

लवंग—मानती हूँ और इसी से तो उन पर श्रद्धा भी करती हूँ।

माधवी—तेरे प्रति उनका भाव कितना स्नेहमय, कितना...

लवंग—(सकुचकर) हुँ...

माधवी—फिर उन्हें विश्वास है कि तू उनके हृदय की भावनाओं को पूर्णतया समझती है और उनका प्रतिदान भी देती है?

लवंग—हो सकता है।

माधवी—और वे समझते हैं कि तेरे हृदय में भी वही भावनाएँ हैं जो उनके मन में हैं।

लवंग—यह भी मान लिया।

माधवी—फिर...बता, तू उनसे प्रेम करती है या नहीं?

लवंग—ये फूल इतने सुन्दर हैं, यह नीलाकाश इतना उदार है, यह पत्थर इतना स्वच्छ है, यह मौलसरी में छिपकर बैठी हुई कोयल इतना मधुर गाती है, तू मुझसे इतना स्नेह करती है, यह हरिणी इतनी चंचल है, ये हरे-भरे खेत इतने सुहावने लगते हैं, मैं सभी से प्रेम करती हूँ, क्योंकि मुझे सभी अच्छे लगते हैं। फिर इसमें नई बात कौन-सी हुई?

माधवी—फूल में, कोयल में, हरे-भरे खेत में और एक सुन्दर पुरुष में कितना अन्तर है ? क्या यह तू नहीं समझती ?

लवंग—नहीं समझती, यही तो उलझन है। फिर भी कोशिश करती हूँ।

माधवी—लवंग, पुरुष के लिए स्त्री या स्त्री के लिए पुरुष केवल एक फूल या एक कोयल नहीं है। प्राकृतिक विभूतियों के सुन्दर सौंदर्य पर मन भले ही रीझ जाय, किन्तु प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम तो तभी हो सकता है, जब कि पारस्परिक आकर्षण हो, और वह आकर्षण स्त्री-पुरुष में ही संभव है।

लवंग—यदि पारस्परिक आकर्षण ही प्रेम है, तो जीवन में आकर्षण का क्षेत्र क्या स्त्री पुरुष तक ही सीमित है ? तुझमें और मुझमें क्या यह आकर्षण नहीं है ?

माधवी—सभी प्रेम आकर्षण है, किन्तु सभी आकर्षण प्रेम नहीं है। मा बच्चे से प्यार करती है, बच्चा दूसरे बच्चे से प्यार करता है; किन्तु वह स्नेह है, मैत्री है, और जो भी कुछ हो, प्रेम नहीं है। प्रेम तो स्त्री और पुरुष में ही हो सकता है।

लवंग—(सोचती-सी) प्रेम स्त्री और पुरुष में ही हो सकता है... शायद तू सच कह रही है...किन्तु...

माधवी—किन्तु क्या ?

लवंग—किन्तु क्या स्त्री और पुरुष के होने से ही प्रेम हो जाता है ?

माधवी—केवल होने से ही क्या हाता है ? एक दूसरे को अच्छा भी तो लगे ?

लवंग—और...जो अच्छा लगे तो ?

माधवी—तब तो प्रेम होगा ही।

लवंग—होगा ही...फिर मुझे क्यों नहीं होता ?

माधवी—तो तू उनसे प्रेम नहीं करती ?

लवंग—यही तो सोचती हूँ कि यह क्या है। वे सुन्दर हैं, वीर हैं, मधुर हैं, दिव्य हैं और सबसे तो अधिक यह कि पुरुष हैं...फिर भी...

माधवी—क्या ?

लवंग—जान पड़ता है वे मेरे अपने नहीं हैं। फूल और कोयल की तरह उन पर भी मैं रीझ जाती हूँ, किन्तु मैं पूछती हूँ, रीझना ही क्या प्रेम करना है ?

माधवी—स्त्री पुरुष पर रीझ जाय और प्रेम न करे, यह अश्रुतपूर्व है, असंभव है। तुझे भ्रम हो रहा है।

लवंग—सोचूँगी।

माधवी—लवंग, ईश्वर के लिए ऐसी बातें न सोच। इस सम्बन्ध में ईश्वर का हाथ है। पुष्पा के इतिहास में एक नया युग आने को है। जो शत्रु था, वह मित्र बन गया। जो शासक था, आज वह द्वार पर भिक्षुक बनकर खड़ा है। राजनीति और सैन्य-बल से जो नहीं हो सकता था, वह तेरे सौंदर्य ने कर दिखाया। तूने सहस्रों प्राणों की रक्षा की, परिवार और राज्य की मर्यादा बचा ली। अब इन व्यर्थ की भ्रांत भावनाओं से मन दुःखित न कर। यह देख दादाजी आ रहे हैं।

[विनायक का प्रवेश।]

विनायक—माधवी, लवंग कैसी है ?

माधवी—बिल्कुल अच्छी।

लवंग—दादा, तुमने अमराई में आदमी भेजा ?

विनायक—भेजा तो था बेटी, पर वह चित्र नहीं मिला। कोई उठा ले गया होगा, या कहीं उड़ गया होगा।

लवंग०—कहीं नहीं मिला ?

विनायक—नहीं, बहुत खोजने पर भी नहीं मिला। जाने दे, फिर दूसरा बना लेना।

लवंग—दूसरा ?...खैर जाने दो, अब उसकी जरूरत ही नहीं।

विनायक—हाँ...तो मैं क्या कहने आया था ? हाँ...देख माधवी, आज राजधानी के लोग आनेवाले हैं। राजकुमार मन्दार भी आ रहे हैं। सन्ध्या तक सभी आ जायँगे। लवंग को शायद लोग देखना चाहें। इसका भार तेरे ऊपर रहा।

माधवी—दादाजी, तुम निश्चिंत रहो, मैं सब कुछ सम्हाल लूँगी।

विनायक—और बेटी लवंग, तुझे किसी चीज़ की आवश्यकता हो, तो मुझे ख़बर देना, भला!

लवंग०—अच्छा।

विनायक—और...हाँ...सुन, बात यह है कि तू तो जानता ही है कि राजधानी के लोग कैसे होते हैं। फिर यह परिस्थिति ही ऐसी है कि बहुत-से लोग चिढ़े हुए होंगे। कितने नुक्ताचीनी करेंगे, कितने बाल की खाल निकालेंगे। ऐसी अवस्था में मेरी प्रतिष्ठा तेरे ही हाथ में है। बेटी, तू स्वयं समझदार है, मैं तुझे क्या बताऊँ?

लवंग०—दादा! मुझे करना क्या होगा?

विनायक—यह तो...अरे करना क्या होगा? कुछ भी नहीं। कैसी पगली लड़की है! तुझे बस यह ध्यान रखना है कि कोई असन्तुष्ट न हो, बस, और क्या? मुझसे तो ज्यादा यह सब तू ही जानती है।

लवंग०—(सोचती-सी) असन्तुष्ट...

माधवी—दादाजी, तुम निश्चिन्त रहो। लवंग सबको सन्तुष्ट कर लेगी। उससे भला कोई असन्तुष्ट हो सकता है?

विनायक—और फिर राजकुमार मन्दार भी तो आ रहे हैं। उनका विशेष स्वागत करना—हाँ!

माधवी—ऐसा ही होगा।

विनायक—नन्दन का राजभवन सब कुछ होते हुए भी एक राजलक्ष्मी के बिना सूना है। हमारी लवंग उस कमी को पूरा करेगी। जान पड़ता है, इस ख़ुशी में मैं पागल हो जाऊँगा...हाँ और? बस इतना ही, और कुछ नहीं। माधवी तू ध्यान रखना।

माधवी—मैं कुछ भी नहीं भूलूँगी।

विनायक—अच्छा...अच्छा...कोई ज़रूरत हो तो ख़बर देना।

[जाता है।]

माधवी—आह...दादाजी...कितने प्रसन्न हैं मानो चाँद को छू लिया। आज सभी के हृदय में आनन्दोल्लास उमड़ रहा है। इस हंस

और हंसिनी की जोड़ी पर कौन हृदय निछावर नहीं कर देगा ? लवंग, सुनती नहीं ?

लवंग०—सुनती तो हूँ।

माधवी—क्या सोच रही है ?

लवंग०—मेरा वह चित्र खो गया। जाने दे, अच्छा ही हुआ।

माधवी—खो गया तो फिर दूसरा बना लेना।

लवंग०—दूसरा ? हूँ...

माधवी—उसमें ऐसी क्या बात थी ? कुछ इतना सुन्दर भी तो नहीं था कि...

लवंग०—माधवी तू क्या जाने ? मैंने अपने स्वप्न और जागृति की सीमाओं को गलाकर मिला दिया था। मैंने हृदय में आँखें जड़कर कल्पना की थी और आँखों में हृदय उँड़ेलकर उस कल्पना को चित्र-पट पर बिखेरा था। उषा से, रजनी से, तितलियों से, इन्द्र-धनुष से, फूल-पत्तों से मैं रंग माँग लाई थी और हृदय की अनुभूतियों को उन्हीं की भाषा में व्यक्त किया था। मेरी आत्मा में भरी हुई सौंदर्य की भावना, पुरुषत्व की परिभाषा उँगलियों से चूकर रंगों में सनी हुई रेखाएँ बनकर उतर पड़ी थीं। मैंने शरीर बना दिया था, केवल प्राण नहीं डाल सकी ; रूप खड़ा कर दिया था, सजीव नहीं कर पाई। जो रचना मैंने रेखाओं में कर दी थी, शायद ईश्वर पञ्चमहाभूतों को लेकर भी वह रचना नहीं कर सकता और...और...वह चित्र खो गया...अच्छा ही हुआ !

माधवी—तू कहे तो मैं स्वयं अमराई में जाकर वह चित्र खोज लाऊँ।

लवंग०—नहीं, नहीं रहने दे ; अब उसे लेकर क्या करूँगी ? उसका खो जाना ही अच्छा है।

माधवी—लवंग, देख ऐसे अवसर पर तेरा उदास होना क्या अच्छा लगता है ? यह दो शरीरों का ही नहीं, दो राज्यों का सम्बन्ध हो रहा है। बड़े भाग्य से ऐसा कुल और ऐसा पति मिलता है, और ऐसा पति जो कामदेव-सा सुन्दर और इन्द्र-सा प्रतापी होकर भी

अभिमान छोड़कर, कुल-मर्यादा को भूलकर तेरे प्रेम की भीख माँग रहा है। देवता का वरदान मिले बिना क्या ऐसा सौभाग्य आ सकता है! यदि दादाजी सुन पायें कि तू सुखी नहीं है, तो उनका हृदय कैसा होगा? यह तेरा भ्रम है, मन की कमजोरी है, इसे भूल जा...लवंग... इधर देख...(मुँह उठाकर देखती है) अरे, यह तो रो रही है... लवंग...तू रो रही है? ओ मा! इसे क्या हो गया है? लवंग!...

लवंग—(हँसती हुई) माधवी, तू ठीक कहती है, मैं रोऊँगी नहीं। यह भ्रम है, मन की कमज़ोरी है। संसार में कितनी बातें हैं, जो समझ में नहीं आतीं, कितनी वेदनाएँ हैं, जिनका नाम नहीं है। इस रहस्यमय जीवन की बारीकियों पर रोना शरद् के उड़ते हुए बादलों की छाया के पीछे दौड़ना है। संसार इसे भ्रम कहता है, कमज़ोरी कहता है...

माधवी—तू मेरे कहने पर बुरा मान गई?

लवंग—नहीं माधवी, बुरा क्यों मानूँगी? तू मुझे सुखी देखना चाहती है। इसलिए कहती है प्रेम कर। दादाजी मुझे नन्दन की राजलक्ष्मी बनाना चाहते हैं इसलिए शिक्षा देते हैं कि मैं प्रेम करूँ। संसार में मेरे जो अपने हैं, वे सभी मुझे आदेश देते हैं कि जो पुरुष मेरा पति होने जा रहा है उससे मैं प्रेम करूँ। मेरे पति सुन्दर हैं, वीर हैं, यशस्वी हैं, सम्राट् हैं; और भी बहुत कुछ हैं, इसलिए शायद मैं भी अपनी आत्मा को समझाना चाहती हूँ कि तू इससे प्रेम कर। संसार का आदेश और परिस्थितियों का तकाज़ा है कि मैं प्रेम करूँ...क्यों करूँ? इसलिए कि मुझे स्वयं सुखी होकर सबको सुखी बनाना है। माधवी, मैं पूछती हूँ, सुखी बनने या बनाने को ही क्या प्रेम करना कहते हैं?

माधवी—मैं तुझे क्या उत्तर दूँ?

लवंग—मैं उत्तर चाहती भी नहीं। सभी रोगों की दवा नहीं होती और सभी प्रश्नों के उत्तर नहीं होते। जीवन में सुविधा भी एक बड़ी चीज़ है। न्यूनतम संघर्ष की रेखा ही जीवन का शायद सबसे प्रशस्त पथ है और संभवतः मुझे भी उसी पर चलना होगा। मेरा कर्त्तव्य है

कि मैं अपने को उस पथ पर चलने के योग्य बनाऊँ। माधवी, बता, मुझे क्या-क्या करना होगा ?

माधवी—मैं यह सब नहीं जानती। चल नहा ले; आज फूलों से तेरा शृंगार करूँगी।

लवंग—रत्नों और मणियों पर लोटनेवाली आँखें क्या फूलों पर रीझ सकेंगी ?

माधवी—रत्न और मणि तो पत्थर हैं, वे फूलों की समता कैसे करेंगे ?

लवंग—और हाँ...यह राजकुमार मंदार कौन है ?

माधवी—महाराज के छोटे भाई।

लवंग०—उनका स्वागत कैसे करना होगा ?

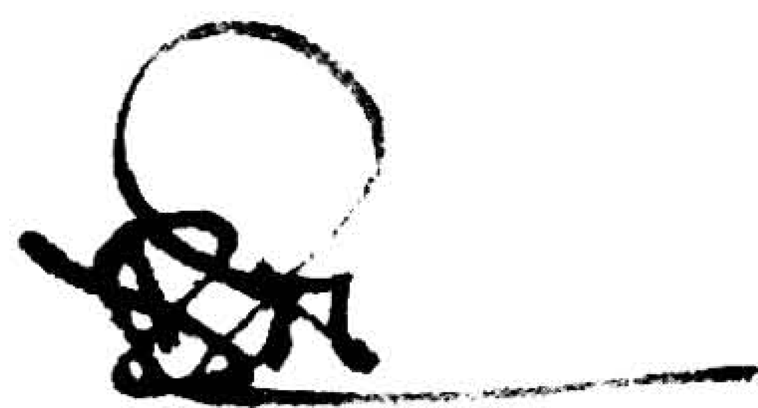
माधवी—कुछ नहीं, ज़रा मुस्कुराकर एक हार पिन्हा देना और...

लवंग—बस...बस...अब तू मार खायेगी।

माधवी—अच्छा मार तो पीछे भी खा लूँगी, अभी चल देर हो रही है।

लवंग—चल !

[दोनों जाती हैं]



पाँचवा दृश्य

स्थान : आनन्द-मन्दिर के प्रमोदोद्यान का दूसरा पथ।

[महाराज पारिजात का प्रवेश]

महाराज—कैसा स्वप्नों का यह देश है ! जीवन में कहीं मलिनता नहीं, संकोच नहीं, भय नहीं, कर्कशता नहीं। यहाँ जीवन किसी स्वर्गीय अमर संगीत की तरह बहता चला जा रहा है, जिसमें कोई व्यवधान नहीं है, बेसुरापन नहीं है। जान पड़ता है संसार के सभी शब्द यहाँ अपने पुराने अर्थ छोड़कर एक नया अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। भावनाएँ नूतन हो जाती हैं, अनुभूतियों में क्रान्ति-सी भर आती है। संसार की वास्तविकता यहाँ उस स्त्री की तरह जान पड़ती है; जिसे बहुत दिन

पहले लड़कपन में एक बार कभी देखा हो और आज यह नवयौवन की मादकता में अलसाई-सी फिर सामने आ खड़ी हुई हो। वह पहचान तो पड़ती है, किन्तु भ्रान्ति सी होती है। और फिर...

[माधवी का प्रवेश]

माधवी—अकेले बैठकर किसे कोस रहे हैं महाराज ?

महा०—अपने भाग्य को।

माधवी—वन-कन्या से प्रेम करने का अफ़सोस हो रहा है ?

महा०—सो नहीं। अफ़सोस यही है कि मैं अकेला हूँ और वन-कन्याएँ बहुत हैं। काश, मैं भी कृष्ण की तरह हज़ारों रूप धारण कर सकता !

माधवी—महाराज ! एक रूप में तो इतना गुण है। एक हज़ार होने से फिर तो वन की हरिणियाँ और कोयलों को भी नन्दन के राज-भवन में शरण देना पड़ेगा।

महा०—उनके लिए नन्दन के राजभवन का द्वार अब भी खुला है।

माधवी—किन्तु हृदय का द्वार तो बन्द है ?

महा०—मेरा हृदय क्या इतना छोटा है ?

माधवी—हृदय छोटा नहीं है ; किन्तु उसके भीतर जो एक प्रतिमा बैठी है, वही बहुत बड़ी है।

महा०—आवश्यकता होने से फिर हृदय को बढ़ाया भी तो जा सकता है !

माधवी—और साथ ही प्रतिमा भी तो बढ़ेगी ?

महा०—क्या एक मन्दिर में एक ही प्रतिमा रहती है ?

माधवी—यह तो उस प्रतिमा के प्राण-प्रतिष्ठापक ही जाने।

महा०—मैं तो प्राण-प्रतिष्ठापक नहीं, केवल पुजारी हूँ।

माधवी—जो पूजा का अधिकारी है, प्रतिमा का भी अधिकारी तो वही है।

महा०—पूजा के साथ अधिकार की चर्चा कैसी ? पूजा तो आत्म-निवेदन है।

माधवी—किन्तु महाराज, भूलते हैं। वन-कन्या अपने सामने आत्म-निवेदन का अधिकार सभी को नहीं देती।

महा०—मुझे अधिकार मिला है केवल आत्म-निवेदन का, न कि आराध्य के सभी अधिकारों को सीमित करने का ?

माधवी—आराध्य के पास अधिकारों का अक्षय तृणीर तो है नहीं। उसके पास तो केवल एक ही अधिकार था जिसे आराधक को देकर वह अकिञ्चन हो गई।

महा०—अकिञ्चन होने का अर्थ तो यह है कि वह अपनी कह सके, उसके पास संसार में ऐसी कोई चीज़ ही नहीं हो। क्या यह सत्य है ?

माधवी—कैसे कहूँ ? जो अधूरी चीज़ें नहीं लेती, जो पूर्णता की ही अभिलाषिणी है, वह कभी जीवन में कुछ भी अपना सकेगी, इसकी क्या आशा है ?

महा०—इस अपूर्ण संसार में पूर्णता तो ज्ञेय भी नहीं, केवल ध्येय है। फिर भी प्रेम जिसके जीवन की एक घटना न होकर जिसका जीवन ही बन गया है, वह पूर्णता की परिभाषा पहनकर आराध्य की आँखों में ग्राह्य बन सकेगा ?

माधवी—पूर्व पक्ष ठीक होने से उपपत्ति भी ठीक ही होगी, ऐसी आशा है ; किन्तु...

महा०—किन्तु क्या ?

माधवी—किन्तु तो किन्तु ही है। विश्व का सबसे बड़ा सत्य-निराकार कल्पनाओं के बीच में साकार वास्तविकता आशा की एक तरी है। उसके एक ओर 'यदि' का भँवर है, दूसरी ओर 'किन्तु' की चट्टान। और उसी तरी पर चढ़कर एक बाला अपनी जीवन-यात्रा करने चली है। अन्त क्या होगा मालूम नहीं।

महा०—फिर भी यदि आशा की तरी सबल है तो यात्रा निर्विघ्न समाप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं।

माधवी—ईश्वर आपकी भविष्यद्वाणी सत्य करे। जान पड़ता है, लवंग इधर ही आ रही है। आप ठहरें, मैं अभी आती हूँ।

महा०—भागने के लिए इतनी उतावली क्यों ?

माधवी—(हँसकर) महाराज, एक में अकेलापन है और तीन में भीड़। प्रेम का संसार तो दो का ही बसता है।

महा०—प्रेम का संसार गणित के नियमों से नहीं चलता। वहाँ एक और एक मिलकर दो नहीं, एक ही होता है।

माधवी—ईश्वर करे आप दोनों की एकता का सूत्र दिनों-दिन दृढ़ होता जाय। और...एक बात और जो आज तक मेरी थी उसे अब बड़ी कसक होती है। फिर भी इस आशा से कि वह सुखी होगी, यह भी सहना पड़ता है। महाराज, लवंग का हृदय ओस-कण से भी अधिक कोमल है। और कोमलता कमज़ोरी का ही एक सुन्दर स्वरूप है। सौंदर्य कमज़ोर हो तो उसे सुकुमारता कहते हैं। इस सुकुमार वन-फूल को महाराज बड़े यत्न से रखेंगे।

महा०—वह वन-फूल मैं अपने हृदय के सब से आर्द्र कोने में सँजो-कर रखूँगा...

माधवी—लवंग आ रही है...मैं...मैं...अभी आई।

[जाती है। लवंग का प्रवेश।]

महा०—आओ, जी तो अच्छा है ?

लवंग—अभी-अभी माधवी खड़ी बातें कर रही थी, गई कहाँ ?

महा०—कहा, मैं अभी आ रही हूँ।

लवंग—तो...तो...मैं जाती हूँ।

महा०—ठहर जाओ, वह भी अब आती ही होगी। जी अब कैसा है ?

लवंग—अच्छा ही है,...

महा०—चेहरा कुम्हलाया-सा जान पड़ता है। क्या कोई तकलीफ़ है ?

लवंग—कुछ भी तो नहीं...

महा०—इस वन-देवी के स्वरूप में तुम्हें देखकर कोई नहीं कह सकता कि तुमने जीवन में कभी शस्त्र भी छुआ भी होगा। वीर-रस शृंगार-रस में परिणत हो गया ! बिजली चन्द्र-किरण बन गई !

लवंग—(एक बार सर उठाकर देखती है, फिर आँख झुका लेती है।)

महा०—देवि !

लवंग—महाराज !

महा०—संसार मुझे महाराज कहता है, इसलिए क्या तुम भी वही कहोगी ?

लवंग—आप मेरे लिए महाराज से भी अधिक हैं। आप मेरे... मेरे...देवता हैं।

महा०—लवंग, मैं देवता नहीं बनना चाहता। मैं तुम्हारी पूजा नहीं, तुम्हारा प्रेम चाहता हूँ। मैं तुम्हें पुजारिन नहीं, जीवन-संगिनी बनाना चाहता हूँ। मेरे लिए तुम्हारे पास क्या इससे कोमल शब्द नहीं है ?

लवंग—जिसे मैंने देवता का पद दिया है, उसे अपनी समानता की सतह पर कैसे उतारूँ ?

महा०—किन्तु प्रेम तो पानी की तरह एक ही सतह खोजता है। उसमें असमानता तो कृत्रिमता है।

लवंग—हो सकता है, सोचूँगी।

महा०—लवंग, एक बात पूछूँ ?

लवंग--क्या !

महा०--तुम मुझ पर नाराज़ तो नहीं हो ?

लवंग--नाराज़गी तो अपराध पर होती है।

महा०--मेरी बातों से तुम्हें कष्ट तो नहीं होता ?

लवंग--यदि कष्ट होता हो, तो फिर उसकी परिभाषा ही उलट देनी होगी।

महा०--फिर तुम मुझसे कुछ खिंची-सी रहती हो, ऐसा मुझे क्यों जान पड़ता है ?

लवंग--(सकुचकर) यह आपका भ्रम है।

महा०--संभव है। न जाने ऐसा क्यों है ; फिर भी मुझे लगता है मानो तुम्हारे एकान्त वन्य-जीवन में प्रवेश करके मैंने तुम्हारा कोई गुरुतर अपराध किया है। जान पड़ता है, तुम्हारी जीवन-रागिनी में मैं

बेसुरा स्वर-सा बनकर आ गया हूँ। तुम्हें जो कुछ मैं दे सका हूँ, उससे अधिक मेरी आक्रांति ने तुमसे छीन लिया है। मेरी आत्मा रह-रहकर सिहर उठती है। लवंग, क्या...क्या यह सच है ?

लवंग०—मालूम नहीं यह सच है या झूठ; किन्तु इतना मैं जानती हूँ कि आपके स्पर्श से मैं ऊँची, बहुत ऊँची उठ गई हूँ। मेरी दुनिया कल्पना की थी, अब उसमें वास्तविकता आ गई है। इस अल्पकाल में मुझे बहुत कुछ सीखना पड़ा है और उससे भी अधिक भूलना पड़ा है। किन्तु जो हुआ, वह तो होकर ही रहता। मेरा स्वप्नों का संसार टूटने के लिये ही बना था और वह आपके स्पर्श से टूटा, इसलिए मैं आपकी चिर कृतज्ञ हूँ।

महा०—तुम मुझे विनाश के लिए धन्यवाद देती हो ?

लवंग—विनाश में ही विकाश होता है। वह छाया-लोक था, प्रकाश का स्पर्श पाते ही घुल गया। और जो घुलने के लिए ही बना था, उसका अस्तित्व ही अभिशाप था। जीवन में रोना पाप है, और हँसना एक भूल है। स्थिर चित्त से आँसू पोंछकर, हँसी रोककर जीवन की समस्याओं पर विचार करना ही वीरता है, बुद्धिमानी है। और यह मैंने आपके आने पर ही सीखा है।

महा०—लवंग ! मैं जो सुन रहा हूँ, उसमें टूटे हुए हृदय का स्वर है, नैराश्य की गन्ध है।

लवंग०—संसार के और बहुत-से सत्यों की तरह यह भी सत्य है कि अन्धकार के गर्भ से ही प्रकाश फूट निकलता है और कोई भी सृष्टि हो, उसके मूल में कहीं न कहीं प्रसव-वेदना छिपी ही रहती है। हो सकता है, इसमें भी वही बात हो।

महा०—जिसके आरंभ में वेदना है उसके अन्त में भी वेदना न हो, मुझे यही शंका है। जो रागिनी षडज के सूनेपन से उठी है वह किस स्वर पर समाप्त होगी, यह कौन जाने ?

लवंग०—किन्तु इस सृष्टि में इन्द्रधनुष भी तो है, जिसके आदि में मेघ का फुहारों से भरा आर्द्र उच्छ्वास है और अन्त में धूप की प्रफु-

लित मुसकान। भविष्य की बात कौन जाने ? मुझे तो उससे घबराहट होती है। मैं अभी केवल इतना ही जानती हूँ कि आप मेरे हृदय-मन्दिर के देवता हैं और आपकी भक्ति ही मेरे जीवन की अमर वासना बनकर रहेगी।

महा०—ईश्वर तुम्हें शक्ति दें। इससे अधिक मैं क्या कहूँ ?

लवंग०—माधवी तो आई नहीं, मैं भी जाऊँ ?

महा०—ठहरो, वे अभी आती ही होंगी। कौन है ?

[दासी का प्रवेश]

दासी—महाराज, राजकुमार मन्दार आये हैं।

महा०—मन्दार आ गया ?

दासी—जी हाँ, अभी तो आये हैं।

महा०—कहाँ हैं ?

दासी—कुञ्ज के द्वार पर खड़े हैं।

महा०—तो...तो यहीं बुला लाओ। लवंग, मन्दार आया है। वह तुमसे मिलकर कितना प्रसन्न होगा !

[दासी जाती है।]

लवंग०—तो मैं जाऊँ ?

महा०—ठहरो न ! हर्ज ही क्या है ? मन्दार तुमसे मिलने ही तो आया है ? मिलकर ही जाना।

लवंग—मुझे यहाँ देखकर वे जी में न जाने क्या समझें ?

महा०—(हँसकर) समझेगा क्या ! बनदेवी अभिसार करने निकली है, बस यही।

लवंग०—मुझे ऐसी बातें अच्छी नहीं लगतीं।

महा०—देखो, वह आ रहा है।

लवंग—मुझे जाने दो।

महा०—ठहरो भी...उससे लज्जा किस बात की ?

[लवंग आँचल सरका लेती है। मन्दार का प्रवेश]

महा०—आओ मन्दार !

[मन्दार महाराज के पैर छूते हैं। महाराज उन्हें उठाकर गले से लगाते हैं]

महा०—और यह हैं तुम्हारी भाभी।

[मन्दार लवंग के पैर छूता है। एकाएक मन्दार और लवंग की आँखें मिलती हैं।]

लवंग—(आश्चर्य से प्रतिहत-सी) अरे...तुम...

[मन्दार विस्मित-सा होकर लवंग की ओर देखता है। महाराज भी विस्मित हो जाते हैं।]

लवंग—मेरे...स्वप्नों...के...हे नाथ...

[मूर्छित होकर गिर पड़ती है। महाराज धर लेते हैं। मन्दार हत-बुद्धि-सा खड़ा है। माधवी दौड़कर आती है और लवंग को गोद में ले लेती है]

[पटाक्षेप]

छठाँ दृश्य

[फूलों की माला गूँथते हुए अपराजिता का प्रवेश।]

[एक दासी का प्रवेश]

दासी—कुमारीजी, आप यहाँ हैं और मैं आपको चारों ओर खोजती-खोजती परेशान हो गई।

अपरा०—क्या काम है ?

दासी—राजकुमार मन्दार का पत्र लेकर एक सैनिक आया है।

अपरा०—मन्दार का पत्र ! कहाँ है ?

[दासी पत्र देती है।]

अपरा०—(पत्र पढ़कर) सैनिक कहाँ है ?

दासी—बाहर खड़ा है।

अपरा०—बुला लाओ।

[दासी जाती है]

अपरा०—(पत्र फिर पढ़ती है) 'अपराजिता ! तुम्हारे सामने की हुई प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए तुम्हें यह सूचना भेज रहा हूँ। आज, जान पड़ता है, जीवन में मैंने पहली बार प्रेम को पहचाना है

और शायद अन्तिम बार भी। संभवतः यह किसी अन्त का ही प्रारंभ है। मैंने जिससे प्रेम किया है, वह है मेरे बड़े भाई की वाग्दत्ता पत्नी, और बड़े भाई की पत्नी का दर्जा मा का होता है। इसका अन्त क्या होगा, समझ में नहीं आता, तुम मुझे भूल जाना। मैं इसी योग्य हूँ।

—'मन्दार'।

[सैनिक का प्रवेश। सैनिक अभिवादन करता है।]

अपरा०—तुम्हीं यह पत्र लेकर आये हो?

सैनिक—जी हाँ।

अपरा०—तुम पुष्पा से आ रहे हो?

सैनिक—जी हाँ।

अपरा०—वहाँ से कब चले?

सैनिक—आज प्रातःकाल।

अपरा०—यहाँ से कितनी देर का रास्ता है?

सैनिक—छः घड़ी का।

अपरा०—राजकुमार ने तुमसे कुछ कहा भी?

सैनिक—केवल दो बातें।

अपरा०—क्या?

सैनिक—पहली बात यह कि युद्ध नहीं हुआ।

अपरा०—क्यों नहीं हुआ?

सैनिक—विद्रोह शान्त हो गया।

अपरा०—बिना युद्ध के ही?

सैनिक—विद्रोही सामन्त की कन्या से महाराज पारिजात का विवाह निश्चित हुआ है। विद्रोह शान्त हो जाने का यही कारण है।

अपरा०—किन्तु विवाह निश्चित होने से विद्रोह रुका है या विद्रोह रुकने से विवाह निश्चित हुआ है?

सैनिक—यह मैं नहीं कह सकता।

अपरा०—और विवाह होगा कब?

सैनिक—आज ही लग्न है।

अपरा०—आज ही ?

सैनिक—जी हाँ, रात्रि के तीसरे पहर में।

अपरा०—और राजकुमार भी वहीं हैं ?

सैनिक—जी हाँ।

अपरा०—अच्छा। और दूसरी बात ?

सैनिक—दूसरी बात यह कि राजकुमार का एक चित्र वन में पड़ा हुआ मिला है। चित्र के विषय में बहुत कुछ पता लगाया गया, किन्तु कुछ मालूम नहीं हुआ कि वह कहाँ से आया और किसका बनाया हुआ है। राजकुमार ने यह चित्र आपके पास उपहार में भेजा है।

अपरा०—देखूँ ! (चित्र देखकर) आश्चर्य ! जान पड़ता है किसी ने सामने बिठाकर ही यह चित्र खींचा है। किसी कुशल कलाकार की रचना है। सैनिक ! राजकुमार भी इसे देखकर आश्चर्यित हुए थे ?

सैनिक—बहुत ज्यादा।

अपरा०—उनका परिचित व्यक्ति कोई वहाँ हो, इसकी संभावना है या नहीं ?

सैनिक—परिचित होना तो दूर रहा, वहाँ राजकुमार को किसी ने पहले देखा तक नहीं था।

अपरा०—राजकुमार का और भी कोई चित्र कहीं किसी ने खींचा था ?

सैनिक—मैंने राजकुमार को कहते सुना कि यह उनका जीवन में पहला ही चित्र है।

अपरा०—और शायद इसी से इतना विचित्र है। अच्छा, तुमने अपनी भावी महारानी को देखा है ?

सैनिक—देखा तो नहीं है ; किन्तु सुना है, अनुपम सुन्दरी हैं।

अपरा०—होंगी ही। अच्छी बात है, तुम अभी विश्राम करो।

सै०—पत्र का उत्तर मिलेगा ?

अपरा०—नहीं, मैं स्वयं चलूँगी।

सै०—आप ?

अपरा०—हाँ। और तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। दासी, इनके विश्राम का प्रबन्ध करो।

[दासी के साथ सैनिक जाता है।]

अपरा०—वन में कुमार का चित्र! इसमें क्या रहस्य हो सकता है? और फिर यह अद्भुत प्रेम। इन दोनों घटनाओं में क्या कोई सम्बन्ध हो सकता है? (चित्र को एक बार ग़ौर से देखकर लपेट लेती है) मंदार ने प्रेम किया, जिसकी आशा नहीं थी, वही हुआ। इसका अर्थ? और यह प्रेम की आग एक ही ओर है या दूसरी ओर भी? भगवन्, इसका अन्त क्या होगा।...

[जाती है।]

सातवाँ दृश्य

[स्थान : विशाखा-तट। चाँदनी उग रही है। दूर से मंगल-वाद्य की ध्वनि आ रही है। देवदारु एक पत्थर की शिला पर बैठा है। मंदार शिला पर एक पैर रखे खड़ा-खड़ा चाँदनी की ओर देख रहा है।]

मंदार—यह क्या था? मानो कोई सुना हुआ गीत, जिसके शब्द भूल गये हैं, किन्तु स्वर अब भी कानों में मँड़रा रहा हो, कोई स्वप्न, जिसकी धुँधली छाया अब भी चेतना में भटकती फिरती हो। एक परिचित व्याकुलता, कोई सोई हुई वेदना, किसी खोई हुई याद की झिलमिल झलक! यह क्या था?

देव०—कुमार, यह समस्त भावना एक विभ्रम भी तो हो सकती है? एक अस्पष्ट, अप्रत्यक्ष कल्पना को सजीव भावना मानकर, उस पर इतनी बेचैनी, इतना उद्वेग...

मन्दार—नहीं-नहीं देवदारु! शब्दों में अँट जानेवाले सत्य से कहीं बड़ा सत्य वह होता है, जो शब्दों से नहीं घिर पाता। मुझे जान पड़ा एक ठेस-सी लग गई, विस्मृति के कुहासे को चीरती हुई प्रकाश की एक कोई चिर-परिचित...और फिर भी अनजान किरण आकर चेतना से टकरा गई...और फिर...फिर वही कुहासा...वही मलिन, साँवला अंधकार...सब कुछ वही। यह क्या था?

देव०—यह जो भी कुछ था, इसका महत्त्व एक स्वप्न की घटना से अधिक नहीं हो सकता। और स्वप्न की घटना का महत्त्व तो उसकी विस्मृति में ही है।

मन्दार—तुम इसके महत्त्व को देखते हो, मैं इसकी महत्ता को देखता हूँ। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, विभ्रम नहीं था; वह तो मानों किसी पूर्व विधान का ही अभिधान था। इसके भीतर अवश्यं-भाविता का जो स्थूल अंश है, उसे भूलने की कोशिश करने पर भी मैं नहीं भूल सकता। इस घटना का महत्त्व इसकी विस्मृति में भले ही हो; किन्तु इसकी महत्ता इसके संस्मरण में ही है।

देव०—किन्तु कुमार, कल्पना और सत्य के बीच में जो एक सूक्ष्म अमिट-सी रेखा होती है, वह भी तो अनुपेक्षणीय है ! उसे भूलकर भी क्या भूला जा सकता है ?

मन्दार—मैं उसे भूल नहीं रहा हूँ। फिर भी उसे बहुत पीछे छोड़ आया हूँ। इसलिए अब उसका कोई महत्त्व नहीं है।

देव०—इसका प्रमाण ?

मन्दार—पहले भी कह चुका हूँ और फिर भी कहूँगा कि जो भावना उभयांगीन है वह केवल एक घटना, एक मरीचिका कैसे हो सकती है ! उसे भी तो ऐसा ही लगा मानों कोई पुराना सपना आकर आँखों के तले बिछ गया, कोई याद कौंधकर निकल गई, कोई नस छू गई, कोई सोई हुई वेदना मचल पड़ी, इस संसार के छाया-नाटक पर किसी दूसरे जगत् की वास्तविकता बरस-सी पड़ी; किन्तु...किन्तु...आखिर यह क्या था ?

[अपराजिता का प्रवेश।]

अपरा०—इसी को प्रेम कहते हैं, मन्दार !

मन्दार—कौन अपराजिता ?

अपरा०—हाँ।

मन्दार—तुम यहाँ ?

अपरा०—हाँ, मैं यहाँ।

मन्दार—तुम जा सकते हो देवदारु। (देवदारु जाता है) तुम कब आईं ?

अपरा०—अभी चली आ रही हूँ।

मन्दार—किन्तु...तुम क्यों आईं ? कैसे आईं ?

अपरा०—यह सब पूछने का फिर भी समय मिलेगा।

मन्दार—अपराजिता, तुमने आकर अच्छा ही किया ; किन्तु फिर भी बताओ तुम किसलिए आई हो ?

अपरा०—तुमने बुलाया था, इसलिए।

मंदार—मैंने ? मैंने तो नहीं बुलाया ?

अपरा०—बुलाया तो था, लेकिन शब्दों से नहीं, कामनाओं से।

मंदार—मैं नहीं जानता था अपराजिता कि तुम मेरे इतना निकट पहुँच गई हो, जहाँ हृदय का स्पन्दन शब्दों का स्थान ले लेता है।

अपरा०—जो तुम इतने दिनों तक नहीं जान सके, उसे आज जानकर ही क्या करोगे ?

मंदार—सत्य जानने के लिए भी क्या समय-असमय होता है ?

अपरा०—असमय का सत्य तो असमय की वृष्टि है, उससे लाभ कुछ नहीं होता, उल्टे बाढ़ आ जाती है...लेकिन अभी छोड़ो इसे...मैंने प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारी प्रेयसी का शृंगार अपने हाथों से करूँगी और आज तुम्हारा पत्र पाकर मैं वह प्रतिज्ञा पूर्ण करने आई हूँ।

मन्दार—मेरी प्रेयसी! अपराजिता, यह सुनने में भी पाप लगता है।

अपरा०—मैं पाप और धर्म की बात नहीं जानती। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि पुरुष जिस स्त्री से प्रेम करता है, वह उसकी प्रेयसी कहलाती है।

मन्दार—किन्तु जानती हो अपराजिता, वह कौन है ? वह सुनो, विवाह-मण्डप में मंगलवाद्य बज रहे हैं। अभी अग्नि को साक्षी देकर विवाह-परिक्रमा पूरी होगी ! कल का सूर्य उन्हें नन्दन की सम्राज्ञी के रूप में देखेगा। नन्दन की सम्राज्ञी, मेरे बड़े भाई की पत्नी, और उसे तुम मेरी प्रेयसी कहती हो ?

अपरा०—मैं शब्दों पर झगड़ा नहीं करती, फिर भी इतना जानती हूँ कि तुम्हारे हृदय में जिस भावना का उदय हुआ है उसी का नाम है, प्रेम और जिसके प्रति...

मंदार—ठहरो अपराजिता, मुझे प्रेम के नाम से भय होता है। मैं तुमसे पूछता हूँ, तुम सच बताना, क्या प्रेम करना पाप है ?

अपरा०—कुमार, यही प्रश्न एक दिन मैंने भी अपने-आपसे पूछा था, क्या प्रेम करना पाप है ? तब मैं बहुत ढूँढ़ने पर भी इसका उत्तर नहीं पा सकी। और अन्त में तुम्हीं ने मुझे इसका उत्तर दिया।

मदार—मैंने ?

अपरा०—हाँ मन्दार, तुम्हीं ने। तुम्हीं ने पहले-पहल मुझे बताया कि इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता, इसलिए कि यह प्रश्न ही ग़लत है।

मन्दार—मैं नहीं समझा, तुम क्या कर रही हो ?

अपरा०—दुनिया पूछती है, क्या प्रेम करना पाप है ? मैं उससे पूछती हूँ, क्या प्रेम भी किया जाता है ? इसमें भी क्या किसी का कर्तृत्व होता है ? प्रेम भी क्या कोई स्वेच्छा से सोच-विचारकर, ऊँच-नीच समझकर, सब कुछ जान-बूझकर करता है ? प्रेम क्या कोई सौदा है ?

मंदार—कहती जाओ, मैं सुन रहा हूँ।

अपरा०—और यहीं यह प्रश्न ग़लत है। प्रेम करने या नहीं करने की चीज़ नहीं है। यह तो होता है। और जब होता है, तो होकर ही रहता है। यह अपने वश की बात नहीं है। इसमें किसी का कर्तृत्व नहीं और जहाँ कर्तृत्व नहीं, वहाँ धर्म और पाप का प्रश्न ही क्या ?

मंदार—ठीक कह रही हो।

अपरा०—जो कहता है, प्रेम करना पाप है; उससे तुम यह पूछो क्या जन्म लेना पाप है ? जीना पाप है ? मरना पाप है ? यदि नहीं, तो फिर प्रेम करना पाप क्यों है ? प्रेम तो हृदय की एक अवस्था है, जिसका होना उतना ही स्वाभाविक है, जितना बालक का तरुण और तरुण का वृद्ध

होना। यदि शारीरिक अवस्था के आवर्तन, परिवर्तन में पाप नहीं तो फिर हृदय की भावनाओं में परिवर्तन होना पाप क्यों है ?

मंदार—किन्तु अपराजिता, इसका एक दूसरा पहलू भी तो है,

अपरा०—है, अवश्य है। प्रेम का सम्बन्ध एक ओर आत्मा से है, दूसरी ओर समाज से। जहाँ तक इसका सम्बन्ध आत्मा से है, वहाँ तक धर्म और पाप का प्रश्न उठता ही नहीं। प्रेम आत्मा के विकास-नाटक का दृश्य है, जिसका यवनिका-पतन मुक्ति-पथ की साधना में ही होता है। किन्तु इसका दूसरा छोर समाज के अञ्चल से बँधा हुआ है और पाप और धर्म की कहानी भी वहीं से शुरू होती है।

मंदार—अपराजिता, तुम्हारे मुँह से ऐसी गहन तत्त्व की बातें सुन-कर मुझे आश्चर्य हो रहा है।

अपरा०—इसलिए कि यह कितनी सीधी-सादी बात है, यह तुम भूल रहे हो। जब हृदय में प्रेम आता है तो किसी से पूछकर नहीं! वह तो पानी की तरह बरस पड़ता है, बाढ़ की तरह उमड़ आता है। और तब विवेक उसे रोक नहीं सकता, समाज उसे थाम नहीं पाता। सारी दुनिया आँखें फाड़कर उसे देखती है, हँसती है, शायद रोती भी है; किंतु उसकी लहरों को बाँध नहीं सकती। प्रेम की धार आती है, और नियम-संयम की चट्टानों से टकराती-तड़फड़ाती-सी अंत में साधना के सागर में उलझ पड़ती है। यह युग-युग की कहानी है। अमर शाश्वत। और मंदार, शायद तुम नहीं जानते कि तुम्हींने मुझे इसे बताया है।

मंदार—मैंनें तुम्हें बताया नहीं अपराजिता! यों कहो कि मैंने सोचा, और तुमने समझा; मैंने खोजा, तुमने पाया।

अपरा०—मैं जानती थी, मेरा विश्वास था कि तुम भी एक-न-एक दिन इसे पाओगे। और जान पड़ता है वह दिन आ गया।

मंदार—शायद। किन्तु अपराजिता, मैं तुम्हारी सहायता चाहता हूँ। मुझे बल दो, साहस दो, आत्म-विश्वास दो...और सब से अधिक यह कि जीवन में एक छोटा-सा त्याग, साधारण-सी साधना कर सकूँ, इसके लिए अपना-सा हृदय दो।

अपरा०—मंदार, किंतु यह सब हुआ कैसे ?

मंदार—उसी तरह जैसे आकाश से बिजली गिरती है या जैसे पृथ्वी से ज्वालामुखी फूट निकलता है ; अकस्मात् बिना जाने और बिना किसी बाहरी कारण के।

अपरा०—किन्तु प्रेम हृदय के परिचय से होता है और हृदय के परिचय के लिए शारीरिक परिचय की आवश्यकता होती है। बिना परिचय के प्रेम हुआ कैसे ?

मंदार—प्रेम हुआ नहीं, जग उठा। बादलों के भीतर से प्रकाश चू पड़ा, धरती छेदकर सोता फूट निकला। परिचय की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। वह तो मानो युग-युगांतर की सञ्चित की हुई स्मृति की तरह हृदय में सोया पड़ा था, हल्की-सी ठोकर लगते ही जग पड़ा।

अपरा०—समझ में नहीं आता, फिर भी जान पड़ता है, यह सब कुछ संभव है। मंदार, यह बिजली एक ही ओर चमकी या दूसरी ओर भी ?

मन्दार—कैसे कहूँ ? किन्तु मुझे भय है कि...

अपरा०—भय का कोई कारण भी है ?

मन्दार—तुम स्त्री हो, शायद मुझसे अधिक इसे समझ सको। वह...वह देखते ही मूर्छित होकर गिर पड़ी !

अपरा०—इतना ?...और महाराज कहाँ थे ?

मन्दार—वहीं।

अपरा०—तुम्हारा प्रथम साक्षात्कार वही था ?

मन्दार—हाँ, और शायद अन्तिम भी।

अपरा०—अन्तिम ! अन्तिम क्यों ?

मंदार—मुझे साधना करनी है अपराजिता ! दो परस्पर-विरोधी भावनाओं को मिलाना है। एक प्रश्न का उत्तर देना है। विश्वात्मा का एक कौतूहल, चिरसञ्चित कौतूहल शांत करना है। और इस जीवन में इतना हो सकेगा, इसकी आशा नहीं है।

अपरा०—मन्दार, यह सब पीछे होता रहेगा। इस समय जान पड़ता है, तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है।

मंदार—विश्राम नहीं, मुझे तपस्या करनी है। विश्राम करने का अर्थ है भूलना, सत्य के प्रकाश के सामने आँखें मूँद लेना। इसके विपरीत मुझे इसकी तह तक पहुँचना है। सत्य का अनुसन्धान करना है। अपराजिता, मेरे जीवन में जागरण आया है, प्रेम की लहर मुझे लेने आई है। इसमें बहकर कहाँ जाऊँगा, यह नहीं मालूम। फिर भी जान पड़ता है, जहाँ सीमाएँ गल जाती हैं, भेद बह जाते हैं, आवरण टूक-टूक हो जाते हैं, सभी अपने हो जाते हैं, और अपने को छोड़कर दूसरा कोई नहीं रहता, मैं वहीं जा रहा हूँ।

अपरा०—तुम्हारी बातों से मुझे डर लगता है! मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। तुम अपने को शांत करो।

मन्दार—डरो नहीं, मैं विक्षिप्त नहीं हुआ हूँ। जितना शांत मैं इस समय हूँ, याद नहीं आता इतना और कभी था या नहीं। मेरा जीवन सुलगती हुई अशांति की एक लम्बी कहानी है। उस पर विस्मृति की राख-सी पड़ी हुई थी। भ्रांति और तन्द्रा की छाया के नीचे किसी अस्पष्ट सत्यता का धुँधला प्रकाश बेचैन-सा तड़फड़ाया करता था। जान पड़ता, कोई रहस्य बाहर आने का तक़ाज़ा कर रहा है, कोई वेदना बिखर पड़ने के लिए मचल रही है। मैं अपने हृदय को ढूँढ़ता, स्मतियों को टटोलता, किन्तु व्यर्थ। सोचना मेरा जीवन और स्वप्न मेरा ज़ागरण हो गया था। मेरी चेतना की पलकें खुलती ही नहीं थीं।

अपरा०—तुम अपने आप पर अन्याय कर रहे हो।

मंदार—तुम नहीं जानतीं, असंख्य बार मैंने अपने आपसे पूछा है, यह क्या है? मेरे लिए जीवन कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, किसी दूसरे अस्तित्व का प्रसार है। यह एक प्रतिविम्ब है, छाया है; किन्तु इसका मौलिक आधार क्या है, कैसा है, कहाँ है, जान नहीं पड़ता। और मैं आज समझ सका हूँ अपराजिता, कि मेरे प्रश्नों का उत्तर क्या था। निर्यात का संकेत मुझे मिल चुका है, किन्तु उस पर चलने लिए मुझे तुम्हारे जैसे विशाल हृदय की ज़रूरत है।

अपरा०—कुमार, तुम्हारी साधना बहुत बड़ी, बहुत ऊँची है, और उसके लिए...

मन्दार—सुनो, मैंने तुमसे प्रेम नहीं किया, किन्तु प्रेम कैसे किया जाता है, यह तुमसे ही जाना है। भूलना भी एक कला है। जिससे एक बार प्रेम किया, उसे हँसते-हँसते निर्विकार हृदय से दूसरे को दे देना, एक बड़ी, बहुत बड़ी साधना है। इसकी शिक्षा स्त्री ही दे सकती है और वह भी यदि अपराजिता हो।

अपरा०—मंदार, हम दोनों एक पथ के पथिक हुए...

मंदार—फिर भी तुम मुझसे आगे हो। तुम मेरी प्रेयसी का शृंगार करने आई हो। काश, यह शक्ति मुझमें भी होती! फिर भी...फिर भी... कोशिश करूँगा। अपराजिता, चलो एक बार नवदंपति के दर्शन करके आँखें पवित्र कर लें।

अपरा०—अवश्य करूँगी। नंदन की नई महारानी से बहुत-सी बातें करनी हैं; किन्तु यह तो बताओ, वह चित्र तुमने कहाँ पाया?

मंदार—मैंने नहीं पाया, एक सैनिक ने पाया

अपरा०—कहाँ पाया?

मंदार—वन में।

अपरा०—उसका चित्रकार कौन है, तुम इसका अनुमान कर सकते हो?

मंदार—बिल्कुल नहीं।

अपरा०—पता लगाने की कोशिश की?

मंदार—कोशिश की, किंतु पता नहीं लगा।

अपरा०—और तुम्हें इस पर आश्चर्य भी हुआ?

मंदार—संसार आश्चर्यों से भरा हुआ है, कितना आश्चर्य किया जाय? फिर भी आश्चर्य तो हुआ ही। शायद इस रहस्य का उद्घाटन कभी नहीं हो सकेगा।

अपरा०—कहा नहीं जा सकता। हाँ, मंदार, एक बात और पूछूँ?

मंदार—खुशी से।

अपरा०—तुमने उन्हें अच्छी तरह देखा ?

मंदार—जितना देखा वह कम नहीं था।

अपरा०—तो...तो...वह कैसी है ?

मंदार०—असाधारण सुन्दरी...किन्तु...

अपरा०—किन्तु क्या ?

मंदार—किन्तु...तुमसे अधिक नहीं।

अपरा०—मंदार, मेरा परिहास कर रहे हो ?

मंदार०—ईश्वर जानता है, मैं अपने हृदय की कह रहा हूँ। तुम त्रिलोक-सुन्दरी हो अपराजिता !

अपरा०—नटखट।...चलोगे ?

मंदार—चलो।

[दोनो जाते हैं।]

आठवाँ दृश्य

स्थान : आनंद-मन्दिर का उपवन।

[विवाह के कपड़े पहने हुए लवंग का प्रवेश। रत्न-जटित आभूषण, मस्तक में सिंदूर-रेखा, उँगलियों में विवाह की अँगूठियाँ। साथ-साथ माधवी का प्रवेश।]

माधवी—नन्दन की महारानी और महाराज पारिजात के हृदय-मन्दिर की आराध्य देवी को मेरी बधाई !

[पकड़कर चूम लेती है।]

लवंग०—बस इतनी ही ? जी भर गया ?

माधवी—औरों के लिए भी तो कुछ छोड़ देना चाहिए, आखिर बिचारे...

लवंग०—(उसके मुँह पर हाथ रखकर) चुप !

माधवी—आज मैं कितनी सुखी हूँ ?

लवंग०—मैं जा रही हूँ शायद इसी से।

माधवी—हाँ इसी से, लवंग को खोकर मैंने नन्दन की महारानी को पाया है।

लवंव०—माधवी, तेरे लिए नंदन की महारानी लवंग से बढ़कर है ?

माधवी—लवंग दूज का चाँद थी, क्षितिज से सटकर आकाश के एक सूने कोने में सकुची, सिमटी-सी झिलमिलाती हुई ; नन्दन की महारानी पूर्णिमा का पूर्ण-चन्द्र है, पूर्ण-यौवना, पूर्ण-ज्योत्स्नामयी...

लवंग—लवंग दूज के चाँद-सी निष्कलंक थी, नंदन की महारानी पूर्णिमा के चाँद की तरह कलंकिनी है। माधवी, यह शायद तू नहीं जानती।

माधवी—तू जिसे चाँद का कलंक कहती है, वह चाँद के हृदय में सँजोई हुई उसके प्रियतम की छवि है ; कलंक नहीं, उसका भूषण है।

लवंग—माधवी, हृदय में सँजोई हुई प्रियतम की छवि सदा भूषण ही नहीं, कलंक भी होती है।

माधवी—मैं तेरी बात नहीं समझी...

लवंग—तू नहीं समझी, इसलिए कि वह किस प्रियतम की छवि है, तू नहीं जानती।

माधवी—तो क्या यह सम्भव है कि लवंग...

लवंग—जब असम्भव सम्भव होता है, तभी तो ज्ञेय अज्ञेय हो जाता है। मेरे जीवन में प्रश्नों का युग गया, अब उत्तर का युग आया है ; किन्तु अनुभूति का द्वार खुलने के साथ ही वाणी का द्वार बन्द हो गया। मैं गुड़ खाकर गूँगी हो गई। उसकी मिठास अब जीभ पर ही घुमड़ती फिरती है !

माधवी—लवंग...

लवंग—नियति ने प्रवंचना की...मुझे रुलाना चाहा, किन्तु मैंने भी निश्चय किया कि मैं उसके साथ युद्ध करूँगी, उससे भी ऊपर चढ़ूँगी। मुझे पराजित करना तो दूर रहा, मुझे कोई छू भी नहीं सकेगा। मैं रुदन और हास्य की सतह छोड़कर वहाँ जाऊँगी, जहाँ अमर शान्ति के तुषार-मण्डित शिखर पर माया की धूप असर ही नहीं करती। माधवी, मुझे केवल एक ही सन्तोष है, मेरी कल्पना प्रवञ्चिनी नहीं थी, मेरा खोजना व्यर्थ नहीं था। मेरा सर्वस्व मुझे मिल गया, किन्तु तपस्या

का वरदान बनकर नहीं, अनन्त साधना का मूक आह्वान बनकर। मुझे पथ का अन्त नहीं मिला, अनन्त का पथ मिला; उलझ पड़ने के लिए सागर की गहराई नहीं मिली, उमड़ उठने के लिए बादलों को चूमनेवाले शैल-शिखर का अट्टहास मिला।

[एक दासी का प्रवेश।]

माधवी—क्या है ?

दासी—एक रमणी राजकुमारी से मिलना चाहती है।

माधवी—कौन है ?

दासी—उन्होंने अपना परिचय पूछने पर भी नहीं बताया।

माधवी—तो जाकर कह दे, राजकुमारी इस समय नहीं मिल सकेंगी।

दासी—किन्तु वह तो मानती ही नहीं।

माधवी—अभी राजकुमारी विश्राम कर रही हैं। कह देना फिर कभी आवेंगी। जाओ।

[अपराजिता का प्रवेश।]

अपरा०—महारानी लवंगलता! आपकी दासी में इतनी शक्ति नहीं है कि वह मुझे रोक सके। मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगी ?

लवंग—आप...कहाँ से आ रही हैं ?

अपरा०—सबसे पहला प्रश्न है कि मैं हूँ कौन ? मैं आपको उत्तर दूँगी, किन्तु मैं एकांत चाहती हूँ।

[लवंग संकेत देती है। माधवी और दासी चली जाती हैं।]

लवंग—अब क्या मैं जान सकती हूँ आप कौन हैं ?

अपरा०—मैं बहुत कुछ हूँ, और कुछ भी नहीं; किन्तु संक्षेप में आप इतना ही जान लें कि मैं राजकुमार मंदार की मित्र हूँ।

लवंग—राजकुमार की मित्र ?

अपरा०—राजकुमार की मित्र होना क्या बहुत आश्चर्य की बात है ?

लवंग—नहीं, किन्तु इसका अर्थ तो शायद यह हुआ कि आप दोनों का सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत है, पारिवारिक नहीं।

अपरा०—हम दोनों का सम्बन्ध पारिवारिक से भी अधिक है।

लवंग—अर्थात्...

अपरा०—मैं उनसे प्रेम करती हूँ।

लवंग—आपको उनसे प्रेम है? आप उनकी...मेरे कौतूहल को क्षमा कीजिएगा...आप उनकी...

अपरा०—कोई नहीं हूँ। वे मेरे लिए सब कुछ हैं, किन्तु मैं उनके लिए केवल एक मित्र हूँ।

लवंग—आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई...आप...

अपरा०—मेरा नाम है अपराजिता। तुम्हारे मुख से 'आप' की अपेक्षा 'तुम' सुनकर मुझे अधिक प्रसन्नता होगी। बहन, मैं नंदन की महारानी से मिलने नहीं, मन्दार की प्रवासिनी आत्मा से मिलने आई हूँ।

लवंग—तो क्या उन्होंने आप...तुमको मुझसे मिलने के लिए भेजा है?

अपरा०—नहीं, उन्होंने नहीं भेजा, मैं स्वयं आई हूँ।

लवंग—राजकुमार ने तुमसे कुछ कहा?

अपरा०—जो कुछ कहने को था, सब कहा।

लवंग—क्या कहा?

अपरा०—उन्होंने जो कहा, उसका अर्थ यही था कि वे सरस्वती के वरदान से गूँगे हो गये, लक्ष्मी की कृपा ने उन्हें अकिञ्चन बना दिया और प्रेम देवता ने कैलाश के हिम-हास-मण्डित शिखर के सूने, एकांकी पथ पर उन्हें खड़ा कर दिया।

लवंग—किन्तु ऐसा हुआ कैसे?

अपरा०—मुझे तुम्हारे आश्चर्य पर आश्चर्य हो रहा है। क्या यह भी बताना होगा?

लवंग—फिर भी मैं जानना चाहती हूँ, उनका अभिप्राय क्या है?

अपरा०—अभिप्राय कहा जा सके, ऐसी तो कोई चीज उनके पास नहीं। हाँ, तुम पूछ सकती हो, उनका पथ क्या है?

लवंग—वही सही।

अपरा०—इसका उत्तर अभी मैं नहीं दे सकूँगी। फिर भी जान

पड़ता है, उनके पथ का अन्त नहीं है, कम-से-कम क्षितिज के इस पार तो नहीं।

लवंग—क्या वे जानते हैं कि तुम यहाँ मुझसे मिलने आओगी ?

अपरा०—उनसे कहकर ही तो मैं यहाँ आई हूँ।

लवंग—और क्या वे जानते हैं कि...कि...

अपरा०—रुक क्यों गई ?

लवंग—क्या उन्हें सब कुछ मालूम है ?

अपरा०—जितना अनुमान से मालूम हो सकता है, वह सब मालूम है।

लवंग—अनुमान ! लेकिन अनुमान तो सच भी हो सकता है और ग़लत भी।

अपरा०—उनकी हार्दिक कामना है कि उनका अनुमान ग़लत ही हो।

लवंग—ऐसा ? ऐसा क्यों ?

अपरा०—आग की लपट जितनी ही सीमित हो उतना ही अच्छा।

लवंग—फिर भी उनका अनुमान सत्य ही होगा, क्या इसका कोई प्रमाण भी उनके पास है ?

अपरा०—अनुमान तो बिना प्रमाण के होता नहीं, फिर भी उन्हें प्रमाण की प्रमाणिकता से अधिक विश्वास अपने हृदय की भावनाओं पर ही है।

लवंग—तो क्या वे समझते हैं कि हृदय को भ्रम हो ही नहीं सकता ? भावनाएँ ग़लत नहीं होतीं ?

अपरा०—यह तो तुम अपने से ही पूछो।

लवंग—मेरे हृदय में क्या भावनाएँ हैं, यह तुम्हें क्या मालूम है ?

अपरा०—मुझे बहुत कुछ मालूम है। उदाहरण के लिए मैं यह जानती हूँ कि तुमने अपने जीवन में उन्हें बिना कभी देखे ही एक चित्र बनाया था, जो उनका सच्चा प्रतिन्यास है।

लवंग—वह चित्र ! तुम्हें वह चित्र कहाँ मिला ?

अपरा०—मंदार से ही।

लवंग—और वह उन्हें मिला कैसे?

अपरा०—वन में पड़ा हुआ।

लवंग—तो वे जानते हैं कि वह चित्र मेरा ही बनाया हुआ है?

अपरा०—नहीं, वे नहीं जानते।

लवंग—फिर तुमने कैसे जाना?

अपरा०—इसलिए कि मैं स्त्री हूँ और स्त्री अँधेरे में दूर तक देख सकती है।

लवंग—उस चित्र को देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ था?

अपरा०—बहुत ज्यादा। उन्होंने बहुत पूछ-ताछ भी की; किन्तु उसके चित्रकार का कोई पता नहीं लगा।

लवंग—उन्होंने उसे पसन्द किया था?

अपरा०—यह वेदना की बात है, मुझसे न कहलाओ।

लवंग—...उफ़...

अपरा०—मैंने उनकी सारी बातें सुनी हैं, अब इच्छा होती है कि तुम्हारी भी कुछ सुनूँ...बहन क्या...

लवंग—अब तो वह भूलने में ही अधिक सुख है।

अपरा०—क्या तुम भूल सकोगी?

लवंग०—भूलना ही होगा। मैं तो पत्थर की शिला थी, तनिक स्पर्श से युग-युग की निद्रा टूट गई, शाप पिघल गया और मैं अहल्या-सी उठ बैठी। जागरण आया, अमर वेदना छोड़ गया, जान नहीं पड़ता इसे क्या कहूँ, वरदान या अभिशाप।

अपरा०—मैं सब कुछ समझ रही हूँ।

लवंग—मेरे जीवन में अब दो धाराएँ बह रही हैं, एक आसक्ति की, दूसरी साधना की। मेरी जीभ मेरी नहीं है, मेरी आँखों पर किसी दूसरे का अधिकार है। स्वयं मैं अपनी नहीं हूँ। सब कुछ देना चाहती हुई भी मेरे पास है ही क्या, जो मैं दे सकूँ। फिर भी...फिर भी, बहन मैं उन्हें सुखी देखना चाहती हूँ!

अपरा०—जितने सुखी वे इस समय हैं उतने और पहले कभी नहीं थे। उनका दुःख ही सुख हो गया है।

लवंग०—यह उनके हृदय की विभूति है। फिर भी तुम उनके जीवन में मिठास ला सकोगी ऐसा सोचकर मुझे...

अपरा०—इसकी आशा नहीं है।

लवंग—क्यों नहीं है?

अपरा०—वे चाहते हैं कि मैं उन्हें भूल जाऊँ।

लवंग—किसलिए?

अपरा०—यह लम्बी कहानी है। उनके हृदय में दो के लिए जगह नहीं है। उन्हें साधना करनी है और मैं उनकी साधना के पथ में दीवार बनना नहीं चाहती। मैं उनसे प्रेम करती हूँ और मैं इतने से ही सन्तुष्ट हूँ।

लवंग०—तुमने उनसे कभी पूछा है कि वे तुम्हें कितना चाहते हैं?

अपरा०—मैं जानती हूँ कि वे इस जन्म में मुझसे प्रेम नहीं कर सकते, फिर पूछकर उन्हें व्यथित क्यों करूँ?

लवंग—तो...बहन, मेरी अनधिकार चर्चा को क्षमा करना...तो फिर क्या यह किसी तरह सम्भव नहीं है कि तुम दोनों सुखी हो सको?

अपरा०—हम दोनों को दुःख ही क्या है, जो तुम सुखी बनाना चाहती हो? दुःख तभी तक दुःख रहता है, जब तक तुम उससे भागना चाहती हो, उससे डरती हो, उसे समझती नहीं। एक बार हृदय खोल-कर अंगीकार कर लेने पर दुःख से अधिक मस्त साथी नहीं मिल सकता। अपना लेने पर हृदय का दर्द गायक के गले के दर्द से भी अधिक मधुर और उन्मादक हो जाता है।

लवंग०—इस छोटे-से जीवन में ऐसी कितनी ही बातें हुई हैं जो चेष्टा करने पर भी मैं नहीं समझ पाई, किन्तु उन सबसे बड़ी बात यह है कि तुम्हारे सदृश स्वर्ग-दुर्लभ रमणी-रत्नाकर पाकर भी कुमार उसे अपना नहीं सके। यह कैसे हुआ? क्यों हुआ?

अपरा०—यह एक रहस्य है जिसका उत्तर अपराजिता से अधिक, लवंग ही दे सकती है। प्रेम रत्नों का सौदा नहीं है और न प्रेमिका

रत्नों का पारखी। प्रेम की कसौटी पर जो रंग चढ़ता है, उसके लिए शब्द बना ही नहीं है। किन्तु अभी छोड़ो उन बातों को। आज मैं तुम्हारा शृंगार करने आई हूँ।

लवंग०—मेरा शृंगार?

अपरा०—हाँ, तुम्हारा शृंगार। तुम्हें राजलक्ष्मी की तरह नहीं, बनदेवी की तरह सजाऊँगी। आज की स्मृति मेरे और शायद तुम्हारे भी जीवन की अँधियारी में युग-युग तक आकाश-दीप बनकर झलमलाती रहेगी। आज हम दोनों के प्राणों की सुहागरात है।

लवंग०—किन्तु इसके लिए शृंगार की क्या आवश्यकता है?

अपरा०—पगली, शृंगार तो स्त्री का जीवन है। स्त्री मरती भी है तो शृंगार करके। आज तुम्हारा शृंगार करके मैं अपने जीवन की एक चिरसञ्चित साध पूरी करूँगी। चलो।

[दोनों जाती हैं।]

नवाँ दृश्य

[स्थान : विशाखा-तट। नदी का जल लहरा रहा है। मन्दार और पारिजात का प्रवेश। पीछे-पीछे देवदारु का प्रवेश।]

पारि०—मन्दार, किन्तु तुम इस तरह हम लोगों को छोड़कर चले जाओगे, ऐसी आशा नहीं थी। जन्म से लेकर आज तक तुम मुझसे अलग नहीं हुए। आज एक बार ही इतनी दूर चले जा रहे हो, यह सोचकर हृदय काँप उठता है।

मन्दार—घर-द्वार, कुल-परिवार का प्रेम मानव-जीवन का शृंगार है; किन्तु शृंगार उतारकर भस्म रमाने से ही विश्व की सर्वाधिक संख्या का सर्वाधिक कल्याण किया जा सकता है। मनुष्यत्व प्रेम से शुरू होता है, और सेवा में विलीन हो जाता है। भैयाजी, आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं सेवा-पथ को अपना सकूँ।

पारि०—मैं तुम्हारे हृदय और मस्तिष्क की शक्ति को जानता हूँ। तुम जो भी कुछ करना चाहोगे, सबसे अच्छी तरह कर सकोगे। किन्तु फिर भी मैं अपने हृदय को कैसे समझाऊँ? कैसे मनाऊँ?

मन्दार—जिस प्रेम को आप आकुञ्चित करके मुझमें रखते हैं, उसी को तनिक फैलाकर मानव-जीवन पर बिखरा दीजिए, फिर आपके हृदय में भी वही रागिनी बज उठेगी, जो मेरे हृदय में गूँज रही है।

पारि०—भाई, मैं न तो कवि हूँ, न दार्शनिक। जीवन में कभी हो सकूँगा, इसकी भी आशा नहीं। मेरे लिए तो तुम तुम हो और संसार संसार। तुम जा तो रहे हो, किन्तु निश्चित समय से यदि मेरे पास निरन्तर खबर न भेजते रहे तो जान रखना मैं भी तुम्हारे ही पथ का अनुसरण करूँगा। यदि इससे कोई अराजकता हुई, विद्रोह हुआ, तो इसकी सारी जिम्मेदारी तुम्हारी होगी।

मन्दार—ऐसा मौक़ा आयेगा ही नहीं। प्रबन्ध के अनुसार ठीक समय पर मैं खबर भेजता रहूँगा।

पारि०—और हाँ, सेवा का अर्थ यह नहीं कि तुम अपनी रक्षा का ध्यान रखो ही नहीं। तुम भूलकर भी ऐसी परिस्थिति न खड़ी कर लेना जिससे तुम्हारे ऊपर कोई संकट आ सके।

मंदार—भैया जी, सेवा के साथ त्याग और त्याग के साथ संकट तो लगे ही हुए हैं, फिर भी मैं आपकी आज्ञा पर पूरा ध्यान रखूँगा।

[देवदारु सीटी बजाता है। एक सुसज्जित नाव आती है।]

पारि०—मन्दार, तब तुम जा ही रहे हो ?

मंदार—मैं जा ही रहा हूँ, क्योंकि मुझे जाना ही चाहिए और जाना ही पड़ेगा। भैयाजी, मुझे इस समय साहस और शक्ति की जरूरत है और आपकी मंगल-कामना मेरे पथ की अँधियारी में आलोक-स्तंभ का काम करेगी।

पारि०—मन्दार, मुझे विश्वास है कि तुम संसार के लिए सेवा और बलिदान की एक अमर कहानी छोड़ जाओगे। किन्तु...फिर भी विश्वास नहीं होता कि सबको छोड़कर मेरा मन्दार आज अदृष्ट-पथ पर इतनी दूर चला जा रहा है...और शायद सदा के लिए...मन्दार... (गला भर आता है।)

[फूलों के गहनों से सजी लवंग और अपराजिता का प्रवेश।]

अपरा०—इतनी जल्दी ? मन्दार, जा रहे हो ?

मन्दार—हाँ ।

अपरा०—सचमुच जा ही रहे हो ?

मंदार—एक बार और भी तुमने यही प्रश्न पूछा था अपराजिता !

अपरा०—और तब तुम चले ही गये ।

मन्दार—आज भी वैसे ही चला जा रहा हूँ ।

अपरा०—किन्तु कहाँ ?

मन्दार—क्षितिज के उस पार...

अपरा०—लेकिन मैं...मैं कहाँ रहूँगी ?

मंदार—तुम्हारे लिए बहुत स्थान है । क्षितिज का बन्धन तुम्हारे लिए उतना कठोर नहीं है जितना...

अपरा०—समझती हूँ...किन्तु मन्दार मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी ।

मन्दार—कर सकती हो । किन्तु अपराजिता, जब तक साधना पूरी न हो, मैं कैसे आ सकूँगा ?

अपरा०—तुम्हारी साधना पूरी होगी, तपस्या सिद्ध होगी और तुम लौटोगे । मैं युग-युग तक, जन्म-जन्मान्तर में भी तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी ।

मन्दार—तो...अब विदा...

[महाराज के पैर छूते हैं । महाराज छाती से लगा लेते हैं । फिर मन्दार लवंग को घुटने टेककर प्रणाम करते हैं । लवंग उठाती है ।]

मन्दार—(लवंग से)...तो...चलूँ ?

लवंग—तुम्हारी साधना पूरी हो । ईश्वर तुम्हारा...तुम्हारा कल्याण करे !

मन्दार—अपराजिता !

अपरा०—हम मिलेंगे...क्षितिज के उस पार...

[मंदार एक बार सबको प्रणाम कर नाव पर बैठ जाता है । साथ में देवदारु भी है । नाव चलती है...]

यवनिका-पतन ।

Every student is warned to read this book.

'स्ट्राइक'

Most wretched book.

[श्री भुवनेश्वरप्रसाद का नाम हिन्दी एकांकी के इतिहास में विशेष उल्लेखनीय है। आपके संग्रह 'कारवाँ' ने काफ़ी ख्याति पाई है। शॉ की प्रतिभा का आपकी रचनाओं पर बहुत प्रभाव पड़ा है। आपके नाटकों में आज की समाज-व्यवस्था के प्रति तीव्र और चुभता व्यंग रहता है। आप सामाजिक विद्रोही हैं, और पुरानी आस्थाओं का विध्वंस चाहते हैं; किन्तु उनके स्थान पर किस नव-जीवन की आप कल्पना करते हैं, यह पता नहीं लगता।

'स्ट्राइक' विनोद-प्रधान एकांकी है। चिर-शोषित भारतीय नारी-पुरुष के विरुद्ध स्ट्राइक कर देती है और वह बैठा-बैठा खाने की बाट जोहता रहता है। 'स्ट्राइक' हमारे फ़ैशनेबिल बूर्जुवा समाज का मख़ौल उड़ाता है और उसके खोखलेपन का हमें अनुभव कराता है।]

no body should read this book.

भुवनेश्वरप्रसाद

[सीन : एक मध्य वर्ग बँगले के खाने का कमरा, जो बरामदे में एक तरफ़ परदे डालकर बना लिया गया है। एक बड़ा-सा साइड टेबिल जिस पर चीनी के बर्तन, प्लेट, प्याले नुमाइशी ढंग से रखे हैं; पास एक छोटी मेज पर फोर्स क्वाकरओट्स, पॉल्सन बटर और अचार के दो अमृतबान सजे हैं। खाने की मेज़ अण्डाकार है जिसके चारों तरफ़ चार कुर्सियाँ पड़ी हैं। दो पर एक स्त्री और पुरुष बैठे हैं, पुरुष, सुपुरुष; स्त्री कुछ बोले तो पता चले, कम-से-कम दस मिनट से ख़ामोश तीसरे पहर की चाय पी रही है।]

स्त्री—(चाय का प्याला घुमाते हुए) तो सरदार साहब बहुत चौंके ?

पुरुष—(अनमना) हूँ...

[स्त्री कुछ कहने के लिए साँस भरकर रह जाती है।]

स्त्री—तो आज नौकर दोनों छुट्टी ले गये हैं...

पुरुष—(दो घूँट चाय पीकर नैपकिन से ओठ पोंछते) सरदार साहब की डाइरेक्टरों में तो खूब चलती है...

स्त्री—(हास्यास्पद उत्साह से) यह ! यही तो इन कम्बख़्तों को मिटा देता है। यह समझते हैं मेजारिटी इन्हें गदहे से बछड़ा बना देगी ! कम्बख़्त यह नहीं समझते कि अब मेजारिटी के माने ही बदल गये हैं। मेजारिटी थोड़े से बेज़रा अधमरे केंचुओं का नाम थोड़ा ही है ! वह शक्ति, दुनिया को हिला देनेवाली शक्ति का नाम है और हमेशा एक आदमी—एक आदमी में होती है।

[स्त्री चुपचाप चाय उँडेलती है और दूध डालकर ग़ौर से प्याले को देख रही है। पुरुष रोटी पर बेरहमी से मक्खन लगा रहा है और कुछ देर ख़ामोशी-सी हो जाती है।]

पुरुष—सरदार साहब, राजा साहब, बाबू साहब, सबके साथ यही दिक्क़त है। कम्बख़्त ज़िन्दगी का आर्ट नहीं जानते, बेज़रा निहत्थे

पाजियों की तरह यह मौत तक खिसकते जाते हैं ! जब उन्होंने देखा कि मैं उनसे भीख नहीं माँगता, उनके तलवे नहीं सहलाता, ग्रह नहीं बनाता, षड्यन्त्र नहीं करता तो मुँह बाकर रह गये ; जी हाँ, मुँह बाकर रह गये ! (प्याला रखकर हँसता है ।) यह कुछ समझते-बूझते तो हैं नहीं । जब कभी इनके ठोकर लगती है, तो बस खड़े होकर मुँह बा देते हैं । (आवाज़ धीमी करता है) लेकिन कपड़ों के नीचे यह सब इज़्ज़त-दार मोटे घुड़मुँहे, गधे हैं गधे ! हाँ, प्लान्ड सोसाइटी में इनका एक मसरफ़ ज़रूर है--यह ठोकरें खूब झेल लेते हैं ! डिवीडेन्ट कम हुआ, इनके हाथ-पाँव फूल गये ; किसी कालिज के चिबिल्ले ने किताबी अंग्रेज़ी में स्ट्राइक की धमकी दे दी, इनके हाथ-पाँव फूल गये, यह बौखला गये । (हाथ को नाटकीय ढंग से हिलाते) मैंने साफ़ एलान कर दिया कि मैं तीन साल तक कोई डिवीडेंड नहीं बाँटूँगा, अँगूठा कर लो मेरा !

[भद्दी तौर से अँगूठा दिखाता है ।]

[स्त्री चाय ख़त्म करके घड़ी की तरफ़ देखती है और भँवों में कुछ घुस-पुसाती है, पुरुष बेचारा क्या समझे । वह एकाग्र खाता है । कमरे में फिर निस्तब्धता छा जाती है ।]

पुरुष--(ऊबा-सा) तो आज नौकर दोनों ग़ायब ! मेम साहब ने चाय बनाई है, पर ईवनिंग--शाम को क्या होगा ? मेरी तो मीटिंग शायद आठ पर ख़त्म होगी ।

स्त्री--(नैपकिन से उँगलियाँ मलते) मैं... मैं (सहसा) तो जा रही हूँ ।

पुरुष--कहाँ जा रही हो ? कहाँ ?

स्त्री--(बाहर की तरफ़ नैपकिन हिलाते) वहाँ ?

पुरुष--(बाहर की तरफ़ देखता है) वहाँ ? बाज़ार, शॉपिंग के लिए ?

स्त्री--नहीं, मैं तो लखनऊ जा रही हूँ । लेटेस्ट जी० आई० पी० से लौट आऊँगी ।

पुरुष--(अपना आश्चर्य भरसक छिपाते) लखनऊ, जी० आई० पी०, आखिर क्यों ?

स्त्री—(चाय खत्म कर चुकी है) कुछ नहीं, ऐसे ही घूमने। सरदार साहब की बीवी हैं, मिसेज़ निहाल हैं, मैं हूँ, मिस मित्तर हैं—उन्हीं को काम है, न जाने रेडियो लेने जा रही हैं क्या।

पुरुष—(उँगली पोंछ रहा है) तो यह कहो, (रुककर) लेकिन कार क्यों नहीं ले जातीं !

स्त्री—नहीं, कार—कार नहीं। जी० आई० पी० से लेटेस्ट लौट आयेंगे। वही शायद आख़िरी गाड़ी है।

पुरुष—(जेब से सोने की जेब की घड़ी निकालकर और उसे वास्कट पर पोंछकर) तो जी० आई० पी० यहाँ आती है १०-१५ पर, तुम यहाँ १०-२५ पर आ जाओगी। कार मैं पम्प पर छोड़ दूँगा अरे मिलखीराम के पेट्रोल पम्प पर। खाने के लिए यह करना कि मैं कार में टिफिन कैरियर रख लूँगा, तुम स्टेशन से सालन वगैरा ले आना, न होगा रोटियाँ यहीं बन जायँगी। (जेब में घड़ी रख लेता है और जेब टटोलकर सस्ता सिगरेट केस निकालता है और एक सिगरेट जलाता है, धुआँ छोड़ने) अब सरदार साहब के मिजाज़ ठिकाने आ जायँगे। कोई वसूल नहीं, कोई हौसला नहीं—भला इसे जिन्दगी कहते हैं ?

स्त्री—तो जी० आई० पी० यहाँ साढ़े दस पर आती है ?

पुरुष—(फिर घड़ी निकाल लेता है और फिर उसे पोंछता है।)

नहीं, १०।१५ पर। और जी० आई० पी० की गाड़ियाँ लेट नहीं होतीं—यह ई० आई० आर० नहीं है। (जैसे कोई अपनी ही चीज़ का बखान कर रहा हो।) दुनिया का भविष्य एफीशेन्सी के हाथ में है—दुनिया की सारी दौलत, सारा आराम, सारा जस उसका है जो अपनी जगह पर क़ायम है और काम का जो छोटा हिस्सा उसका है उसे मशीन की तरह सरंजाम दे रहा है। अमरीका का एक बहुत बड़ा लेखक है बरनर्डशा, उसने कहा है...

स्त्री—(सहसा ऊबी-सी) मिसेज़ निहाल ने कहा तो था कि वह अपनी कार भेजेंगी। तुम्हें मीटिंग में कब जाना है ?

पुरुष—(चौंककर घड़ी की तरफ़ देखता है) साढ़े चार ! सो आई

एम ऑफ—(गुनगुनाता है) चार बजकर सत्रह—तीन या चार मिनट मुझे ड्यू क कम्पनी में लगेंगे, चार-इक्कीस—ख़ैर, तो चलो तुम्हें पिन्डो के यहाँ छोड़ दूँगा ; वहाँ से—या आओ निहाल के यहाँ तक, दो मिनट की तो बात ही है।

स्त्री—(अँगड़ाई लेते हुए) अच्छा ! (खड़ी हो जाती है) यही साड़ी पहने रहें या दूसरी पहन...

[मुड़कर साड़ी देख रही है ।]

पुरुष—(सिगरेट दो-तीन बार चूसकर फेंकते) जैसा तुम्हारा जी चाहे। लेकिन तुम्हें मेरे सर की क़सम, बतला दो लखनऊ में क्या है ?

स्त्री—(बरबस मुस्कराती है) लखनऊ में—बहुत-सी चीज़ें हैं—छोटा-बड़ा इमामबाड़ा, चिड़ियाघर, हजरतगंज, अमीना...

पुरुष—नहीं, मैं पूछता हूँ, आज शाम को कोई ख़ास बात ?

स्त्री—(जाते हुए) आज शाम को ख़ास बात ? कोई ख़ास बात नहीं है।

पुरुष—(एक बड़ी मुहिम के लिए तैयार होते) यहाँ आओ, यहाँ बैठो। (स्त्री घूमकर खड़ी हो जाती है) यहाँ बैठो, मैं देखता हूँ, तुम कुछ दिनों से ऐसी ही हो रही हो। मैं जानता हूँ, तुम्हारी यहाँ तबियत नहीं बहलती है, पर छुट्टियों में निर्मल आ जायगा, मोनी भी शायद यहीं आवे। तुम्हें मालूम हुआ, मोनी अबकी प्रेलिम में फर्स्ट रही हिन्दुस्तानी लड़कियों में। लेकिन हाँ, बताओ यह तुम्हें हुआ क्या है ?

स्त्री—होता क्या ? कुछ नहीं हुआ ; तुम अगर मेरी तबियत का एक ग्राफ बनाओ तो लकीर वहाँ...वहाँ बिजली तक पहुँच जाय—

पुरुष—(उत्साहित होकर) हाँ, लेकिन फिर यह बेताबी क्यों है ? देखो आदमी के सामने सबसे बड़ा मसला यह है कि वह अपनी सरप्लस एनरजी किस तरह काम में ले आये। आदिम जंगलीपन से लेकर आज तक की तहज़ीब तक जो कुछ भी आदमी ने अपने को दुखी या सुखी बनाने के लिए किया है, वह इस सरप्लस एनरजी को काम में लाने के लिए। फिर दुःख या सुख तो इतनी ठोस चीजें हैं कि एक दिन

तुम देखोगी कि यह शीशियों में बिका करेंगी, शीशियों में! मुझे इन टिसुये बहानेवालों से नफ़रत है, सख्त नफ़रत! यह सिर्फ़ हरैले ही नहीं हैं, यह तो अपनी हार के गीत गाते हैं, नारे लगाते हैं।

स्त्री—अच्छा उठो, फिर तुम मुझे लिफ्ट न दोगे?

पुरुष—(फिर घड़ी निकालता है और उसे पोंछता है) इम्पासिबिल! तुम अब मिसेज़ निहाल का इन्तज़ार करो।

[जल्दी से भीतर चला जाता है, स्त्री वहीं बाहर तरफ़ घूरती हुई बैठी रहती है। थोड़ी देर में पुरुष भीतर से आता है, बगल में पुराना फेल्ट हैट दाबे हाथ के छोटे डण्डे को रूमाल से पोंछ रहा है।]

पुरुष—१०।१५ पर तुम स्टेशन आ जाओगी, वहाँ से मिलखीराम तक का रास्ता है ५ मिनट का, १०।२०, यानी १०।३० तक तुम यहाँ होगी, यानी १०।४० तक हम-तुम यहीं इसी टेबुल पर डिनर के लिए बैठे होंगे? मैं स्टेशन आ जाता लेकिन मिस मित्तर...तुम ख्वामख्वाह जलोगी। (भद्दी हँसी हँसता है, स्त्री पर जैसे इसका कोई असर नहीं होता) अच्छा, चीरियो!

[पैड़ियों पर से तेज़ी से उतरता हुआ चला जाता है। स्त्री वैसी ही बैठी रहती है, फिर अनमनी भीतर उठकर चल देती है। स्टेज पर एकबारगी अन्धकार हो जाता है। बीच में दो बार रोशनी होती है जिसमें पूरे सीन में खाली मेज़ और कुर्सियाँ दिखलाई देती हैं। घड़ी जिसमें पहले ८।३० बजा है, फिर ९।]

[दूसरा सीन: एक मध्यवर्ग क्लब का कमरा, तेज़ तीखी रोशनी हो रही है। मेज़ों पर ताश और भरी हुई एश-ट्रे बिखरी हैं, कुर्सियाँ भी अनेक चारों तरफ़ तितर-बितर पड़ी हैं, कोने में एक बड़ी-सी फ्रेंचविण्डो के सामने सोफों पर तीन आदमी बैठे हैं। सीन में सिर्फ़ उनका पीछा दिखाई दे रहा है। पास ही एक कुर्सी पर सामने की एक छोटी मेज़ पर सुरुचि से कपड़े पहने एक युवक ताश बराबर फेंट रहा है। खिड़की के फ्रेम में तारों से खिला हुआ आकाश तस्वीर की तरह जड़ा हुआ है।

दीवार की बड़ी घड़ी ८।४५ बजा रही है। कमरे में सब खामोश हैं, पर निस्तब्धता नहीं है।]

पहला आदमी—न मालूम मैं यह मनहूस ब्रिज का खेल क्यों खेलता हूँ?

[आवाज़ वृद्ध-सी है।]

दूसरा—(जम्हाई लेता) क्या किया जाय। आओ, कोई और झण्डा ऊँचा करें।

तीसरा—यह लोग आते भी तो नहीं। (कुर्सी पर के युवक की तरफ़ घूमकर) देखो जी, तुम मिक्सड सोसाइटी की चर्चा चलाओ...

[दोनों आदमी घूमकर युवक की तरफ़ देखते हैं। तीनों आदमी मोटे अधेड़, कीमती कपड़े पहने और शिद्दत से संतुष्ट हैं।]

युवक—(झेंपता-सा) मैं कैसे उठा सकता हूँ। हाँ, मेरी बीवी आती तो मैं ज़रूर ऐसा करता, देखिए उन्हें...

[तीनों एकबारगी 'हूँ' करते हैं और फिर मुड़के बैठ जाते हैं और खामोश हो जाते हैं। युवक फिर ताश फेंटने लगता है।]

पहला—(जेब से सिगरेट-केस निकालता है और फिर रख लेता है) चलो भई, चलें, मुझे तो सुबह से ही काम है।

दूसरा—(मुड़कर घड़ी देखते) यह श्रीचन्द बुत्ता दे गया।

पहला—नहीं भाई, कहीं फँस गया होगा। उसके तो मकड़ी की तरह सौ आँखें हैं!

युवक—वह आयेगा ज़रूर, मेरी तो दावत कर गये हैं।

तीनों—(मुड़कर) अच्छा! और पट्ठे की बीवी आज है नहीं!

[सब एक दूसरे की तरफ़ देखते हैं।]

युवक—अच्छा, मुझे मालूम होता तो मैं कभी एक्सेप्ट न करता।

पहला—इसे—श्रीचंद को देखो, जब यह वकालत छोड़कर बिज़िनेस में आ रहा था, मुझे इसकी कामयाबी की ज़रा भी उम्मीद न थी, पर देखो—आज वह एक कम्पनी का सर्वेसर्वा बन गया।

[हँसता है।]

दूसरा—(जम्हाई लेता और अँगूठियोंवाली उँगली से चुटकियाँ बजाता है।) मैं तो भाई दिन-ब-दिन कायल होता जाता हूँ कि क़िस्मत भी कोई चीज़ है।

[युवक ताश रखकर एकाग्र इन लोगों की बातें सुनता है।]

तीसरा—(उठ खड़ा होता है) आओ भई चलो। आइए मिस्टर सहाय, आपको लिफ्ट दे दूँ। घर तक...

पहला—बैठो न, श्रीचंद आता ही होगा।

युवक—और आपसे तो उन्होंने भी लिफ्ट के लिए कहा था।

तीसरा—(बैठते हुए) हूँ, हूँ; तब तो रुकना ही पड़ेगा।

[युवक कोई भी बात शुरू करने का इरादा करता है।]

युवक—आज मेरठ कांसप्रेसी का मुक़दमा शुरू हो गया।

तीनो—क्या ? अच्छा !

[तीनों ऐसी बातों की तरफ़ से उदासीनता दिखलाना चाहते हैं, पर कुछ असफल-से हो रहे हैं।]

पहला—श्रीचंद ने इनके बारे में खूब कहा।

[हँसता है। सब उसकी तरफ़ देखकर सुनना चाहते हैं।]

पहला—(कोट का कालर ठीक करते) मेरे साथ कमिश्नर से मिलने...उन्होंने मेरठ की बात चलाई। आप छूटते ही हिन्दुस्तानी में—हिन्दुस्तानी में बोले—अरे साहब, इनको तो ऐसे ही छोड़ देना चाहिए, यह तो हम लोगों के खिलौने हैं।

[तीनो फैशनेबल हँसी हँसते हैं, युवक भी उसमें शामिल होता है।]

दूसरा—हर मुल्क, हर गवर्नमेंट के सामने मसला सिर्फ यही है कि किस तरह उसके टैक्स कम-से-कम किये जा सकते हैं। आप टैक्स कम कर दीजिए, रिआया अपने-आप खुशहाल होगी।

पहला—हम लोगों-सा कोई बेसरोकार आदमी रूस जाकर देखे कि इन शरीफ़ों ने वहाँ क्या कर दिखाया है, कि दुनिया-भर को रूस के सामने हेच समझते हैं !

तीसरा—यानी, ख़ुदा तक को !

[फिर तीनों ऊबी-सी हँसी-हँसते हैं। बाहर कुछ खटका-सा होता है। सब लोग बाहर की तरफ़ देखते हैं। पहले सीन का परिचित पुरुष सन्तोष और लापरवाही से आता है।]

पुरुष—(अपना हैट और डण्डा एक खाली मेज़ पर रखते हुए) तो तुम लोग सिर्फ़ इन्तज़ार कर रहे थे, ब्रिज खत्म कर दिया ?

दूसरा आदमी—(कमरे के बीच में आते) आज सहाय फिर हार गये !

पुरुष—(हँसता हुआ) सहाय, तुम बड़े हरैले हो !

[अब सब अपनी जगहों से उठकर कमरे के बीच में आ गये हैं।]

पहला—जीत तो सब तुम्हारे हिस्से में पड़ी है।

पुरुष—अरे म्याँ, क्या जीत क्या हार। यहाँ तो इसका कभी सपने में भी खयाल नहीं करते। हम तो ईमानदारी से जीना जानते हैं। मैं फिर कहता हूँ, ज़िन्दगी एक आर्ट है और सबसे बड़ा आर्ट !

तीसरा—(जम्हाई लेता) चलो भई बड़ी देर हो गई। (सब घड़ी की तरफ़ देखते हैं, पुरुष फिर अपनी सोने की घड़ी निकालता है और उसे पोंछता है) चलो, घर तक छोड़ना पड़ेगा।

[तीनों भीतर जाकर अपना हैट लेते हैं, केवल युवक नंगे सिर है।]

पहला—यह चौकीदार न जाने कहाँ मर जाता है।

दूसरा—मर जाता है ? क्या खूब ? क्या नई बीवी कर लाया है ? ज़रा सोचो, नई बीवी !

[सब जवान औरतों की तरह हँसते हैं, सिर्फ़ युवक कुछ झेंपा-झेंपा-सा है और सबसे पीछे बाहर जाता है। बाहर बरामदे से दो या तीन मरतबा आवाज़ आती है, 'चौकीदार !' फिर मोटरों के स्टार्ट होने की और फिर ख़ामोशी। स्टेज पर अँधेरा हो जाता है, पर बीच में दो या तीन मरतबे रोशनी होती है और एक किसान का-सा बुझा हुआ चेहरा लिये चौकीदार मेज़ झाड़ता और जले हुए सिगरेट बीनता हुआ दिखलाई देता है।]

[सीन : तीसरा। पहले सीन के कमरे का बरामदा, लम्बा और साधा-

रण से ज़रा ऊँचा। खम्भों के पास बड़े-बड़े पाम रखे हैं, खम्भों पर बेलें भी फैली हैं, दरवाज़े सब बन्द हैं। जिनके सामने तीन-चार बेमेल कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं। सीढ़ियों पर एक बड़ा झबरा कुत्ता लेटा है। सीन के शुरू में कोई आदमी नहीं दिखलाई देता; पर फ़ौरन ही गृहस्वामी और युवक जो क्लब से आ रहे हैं, सीढ़ियों पर चढ़ते दिखलाई देते हैं। कुत्ता सर उठाकर धीमी जानकारी से गुर्राता है, फिर पूँछ हिलाता हुआ पीछे-पीछे आकर बरामदे में लेट जाता है। स्टेज पर कम-से-कम रोशनी है।]

पुरुष—(मेहनत से चढ़ते हुए) तो यह कहिए ? रुकिए...

[जेब टटोलता है।]

[फिर एकबारगी सीढ़ियों से उतरकर बँगले के पीछे की तरफ़ जाता है, युवक वहीं खड़ा होकर उसकी ओर उत्सुकता से मुस्करा रहा है, फ़ौरन वह फिर वापस आ जाता है और उतावली से जेबें टटोल रहा है।]

पुरुष—अब यह नहीं पता, मेरी वाइफ़ चाभी मुझे दे गईं या कहीं रख गईं। नौकर...मैं कहता हूँ कि मेरी ज़िन्दगी में अगर कोई सुर बेसुरा है तो यह नौकर। छुट्टी, छुट्टी। रोज़-रोज़ इनको छुट्टी चाहिए, कम्बख़्त यह नहीं जानते...

[युवक सहसा एक कुर्सी खींचकर बैठ जाता है। पुरुष स्विच टटोलकर बत्ती जला देता है और फिर दूसरी कुर्सी पर ठीक युवक के सामने बैठ जाता है।]

पुरुष—(एकबारगी हँसता हुआ) अगर स्विच कमरे के भीतर होता तो लुत्फ़ आ जाता !

युवक—ख़ैर, यहाँ भी तो आराम से बैठे हैं।

पुरुष—हाँ, हाँ; ९।३० बजा है, (घड़ी निकालता है और उसे पोंछ के देखता है) ९।२७, मेरी वाइफ़ यहाँ १०।३० बजे तक आ जायगी। खाना वह साथ ही लायेगी। (जम्हाई लेता है) और कहिए।

युवक—(उत्साह से) मुझे कोठी तो ख़ैर मिल गई...

पुरुष—(जूते को फटफटाते) खैर, कोठी-ओठी तो है, आपने यह नहीं बताया कि आपने शादी क्यों नहीं की ?

युवक—(कठिनता से) नहीं ही की—नहीं की, कोई वजह तो है नहीं।

पुरुष—(मुस्कराता) मैं सच कहता हूँ, मैं आप जवान आदमियों को देखकर बाज़ मरतबा बहुत ख़ुश होता हूँ।

युवक—(जैसे इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं है) जी हाँ !

[हँसता है।]

पुरुष—(सँभलकर) नहीं। मैं आपसे दिल्लगी नहीं कर रहा हूँ। आप लोग हमसे एक पीढ़ी आगे हैं, पर अगर आपसे हिसाब तलब किया जाय तो आपके पास क्या है ? आप मुझे बतलाइए, आप लोगों ने दुनिया को क्या दिया ? मैं साइंटिफिक ईजादों की बात नहीं करता, उसकी तो एक पूरी मुकम्मिल स्कीम है जिसमें पीढ़ियों और समाज का कोई दख़ल ही नहीं है, वह तो नेचर धीरे-धीरे अपने आपको पूरा कर रही है। मैं जानता हूँ, आप मेरे ख़यालात को दकियानूसी समझकर मन ही मन हँस रहे हैं ; लेकिन भाईजान, आपने अपने नये खयालात से कौन-से करिश्मे कर दिखाये हैं, आप बताइए।

युवक—जिक्र तो शादी का था ?

पुरुष—हाँ, हाँ, शादी को ही ले लीजिए। आप मानते हैं कि हर एक आदमी को रेस की, जाति की ज़िन्दगी में दाखिल होना ज़रूरी है। जैसा मैं बाज़ मरतबा कहता हूँ कि दुनिया साझे की दुकान है और हर एक बालिग़ आदमी को उसका साझीदार होना फ़र्ज़ है। अगर इसके लिए कोशिश में आप अपनी जान नहीं खपा देते तो आप इंसान कहलाने के हक़दार नहीं। (उत्तेजित होकर) मैं कहता हूँ, सब किताबें ग़लत हैं, सब झूठी हैं !

युवक—मैंने तो शादी नहीं की—नहीं की कि मैं बालज़क के 'एप-कैसान' की तरह शायद कभी भी औरत का दिमाग़...

पुरुष—भाईजान, शादी एक गहरा मसला है, आप उसके साथ

खिलवाड़ नहीं कर सकते। मैं पूछता हूँ, आप एक फैक्टरी में तो हर तरह की साइंस; कानून, स्पेशलाइज्ड नॉलेज लगाते हैं, फिर क्या वजह कि जिन्दगी को ऐसे ही अल्लावाली छोड़ दिया जाय कि उसमें आदमी की सस्ती से सस्ती और निकम्मी से निकम्मी ताक़तें ही सिर्फ़ काम में लाई जायँ! आप कहते हैं, मैं औरत को समझ नहीं पाता। जनाब, यह सब कोरी बातें हैं! समझने की क्या जरूरत है? मशीन की एक पुली दूसरी पुली को नापने-जोखने, समझने नहीं जाती। स्त्री-पुरुष तो जिन्दगी की मशीन के दो पुरज़े हैं—दो हैं (उँगलियाँ दिखाता है) क्या कयामत है?

युवक—यह फैक्ट्री और मशीन की एक ही रही!

पुरुष—नहीं साहब, आप मुझे देखिए, मेरी पहली बीवी थी। कम्बख्त को हमेशा मुझसे शिकायत रही, लेकिन उसकी बीमारी में जब मैं उससे टाँग में टाँग बाँधकर रहा तो मेरा नाम रटती हुई मरी। अब यह मेरी दूसरी बीवी है। हमारे बच्चे नहीं यानी इस वाइफ के। हम लोग क्लबों में साथ-साथ नहीं जाते, हफ्ते में एक मरतबा सिनेमा देखते हैं; पहाड़ जंगल जाने का मेरे पास वक्त नहीं, पर हम लोग बेहद खुश हैं—कभी हममें कोई भेद-भाव हुआ ही नहीं। मैं कहना चाहता था कि हम दोनो ने अपनी-अपनी जगह को समझ लिया है और वहाँ हम लोग अडिग हैं। वह बीमार पड़ती है, मैं डाक्टरों से घर नहीं भर देता; मैं बीमार पड़ता हूँ, वह रोती-धोती नहीं। मैं क्या कहूँ, मैं जानता हूँ, इस वक्त मेरी बीवी स्टेशन के बुकस्टाल पर कौन-सी किताब देख रही है। मैं जानता हूँ, वह स्टेशन पर गाड़ी से दस मिनट पहले पहुँच जाती है।

युवक—पर मान लीजिए, मशीन का एक पुरज़ा बिगड़ जाय।

पुरुष—(हँसता हुआ) तो पुरज़ा बदल डालिए, खुद बदल जाइए। किताबें, मैं आपको बताऊँगा, किताबें क्या हैं। मैंने कॉटन मार्केटिंग पर एक पैम्फलट लिखा, मैंने सब वही बातें लिखीं जो लोग रोज़ सोचते थे और जिनकी चर्चा करते रहते थे। नतीजा यह हुआ

कि किताब की धूम मच गई ; पर उन्हीं उसूलों को जिनकी मैंने वकालत की, काम में लाने की बात मैं ख्वाब में भी नहीं सोचता।

[पुरुष सहसा यह आशा करके कि युवक कुछ कहेगा, चुप हो जाता है। युवक सर झुकाये हुए ख़ामोश है। कुत्ता इतना शोरगुल सुनकर पास आकर खड़ा हो गया है। कुछ देर के लिए ख़ामोशी हो जाती है।]

युवक—(सर उठाकर) फैक्ट्री, पुरज़ा, वाकई यह ख़ूब रही !

[पुरुष कुछ कहने के लिए तैयार होता है, पर सहसा फाटक खटकता है और कुत्ता भोंकते हुए दौड़ता है। वह कुत्ते को बुलाता है और बरामदे के किनारे खड़े होकर ज़ोर से पुकारता है—कौन है ? और फिर कुत्ते को पुकारता है। एक चपरासी हाथ में बाइसिकिल थामे आता है और सलाम करके जेब में से एक लिफाफा निकालकर देता है और फिर सलाम करके खड़ा हो जाता है।]

पुरुष—क्या है, तुम कौन हो ? (लिफाफा लेकर अपनी घड़ी की चेन के चाकू से उसे खोलता है—रोशनी की तरफ़ जाता है) एं !

चपरासी—मैं निहाल साहब का ड्रेवर हूँ, मेम साहब ने कहलाया है वह कल आयेंगी।

पुरुष—(खत पढ़ना छोड़कर) कल आयेंगी ? एं ! तुझे क्या मालूम...

चपरासी—सब मेम साहब वहाँ रहेंगे, मोटर वापिस कर दी, मुझसे कहा—

पुरुष—(टहलते हुए उतावली से) और खाना, मकान...और कार मेरी मिलखीराम के पम्प पर पड़ी है।

[चपरासी फिर सलाम करता है और चल देता है, थोड़ी दूर चलके कहता है—]

चपरासी—हजूर, आपका कुत्ता बड़ा पानीदार है। अंग्रेजी है ?

पुरुष—(हताश भाव से) आख़िर—आख़िर, हूँ...

युवक—(उठते हुए) आइए, मेरे होटल में आइए, आपकी फैक्ट्री में तो आज स्ट्राइक हो गया।

पुरुष—मैं कहता हूँ, मेरी कार मिलखीराम के पम्प पर पड़ी है—

[फिर खत बत्ती के नीचे ले जाकर पढ़ता है।]

ड्राप

टकराहट

[जैनेन्द्रजी हिन्दी के प्रतिनिधि कहानी-लेखक हैं। 'टकराहट' आपने 'हंस' के विशेष एकांकी अंक के लिए लिखा था। जैनेन्द्रजी प्रतिभाशाली लेखक हैं और 'टकराहट' एक नई दिशा में आपका सफल प्रयोग है।

इस एकांकी में एक आश्रम का चित्र है। भारत आश्रमों का देश है और नित्यप्रति यहाँ नये आश्रमों की स्थापना होती है। इन आश्रमों में ज्योति के अनुभवी गुरु अपना अड्डा जमाते हैं। कैशास ऐसा ही शक्ति-संपन्न गुरु है, किन्तु उसके मन में अनेक गाँठें हैं जिनका अच्छा विवेचन फ्रायड की पद्धति से हो सकता है।

जैनेन्द्रजी की रचनाओं में कुछ छिपा-सा अव्यक्त रहता है जो गहरे पानी का अनुमान देता है। पानी कितना गहरा है, यह पता कभी नहीं लग पाता।]

रचनाएँ : परख (उपन्यास)
सुनीता ,,
त्याग-पत्र ,,
कल्याणी ,,
एक रात (कहानी)
वातायन ,,
नीलम देश की राजकन्या (कहानी)
प्रस्तुत प्रश्न (विचार)

जैनेन्द्रकुमार

पहला दृश्य

[एक बड़े कमरे का भीतरी भाग। दीवारें सफ़ेद, कोरी। सामान बहुत कम। फ़र्श नग्न। रामदास के आसपास काग़ज़ फैले हैं, कुछ लिख रहा है, बैठा चटाई पर है, सामने चौकी है। एक ओर मोटा गद्दा बिछा है, उस पर चाँदनी, एक मसनद। पास, अलग एक डेस्क।

कैलाश प्रवेश करते हैं। क्षण-इक दरवाज़े पर ठिठककर सब देखते हैं। रामदास सहसा उन्हें देखते ही घबराया-सा उठ खड़ा होता है।]

कैलाश—नहीं। बैठो-बैठो। राम के दास को घबराहट ! (ज़ोर से हँसते हैं। रामदास उनके पैर छूता है।) अच्छा, हुआ। कहो, सब मज़े में ? तुम्हारे प्रयोग चल रहे हैं न ?

रामदास—जी हाँ।

कैलाश—तो महात्मा रामदास बनने की ठानी है !

[हँसते हुए चलकर बिछे गद्दे पर तकिए के सहारे बैठ जाते हैं। रामदास कुछ काग़ज़ों की फ़ाइल लाकर सामने रखता है।]

—लेकिन उस कोने में मकड़ी के जाले की ज़रूरत क्यों हुई ? (हँसते हैं) कल कमरे की सफ़ाई हमारे ऊपर। समझे ?

[रामदास चुप रहता है। कैलाश फ़ाइल देखने लगते हैं। कुछ देर में नायर का प्रवेश। वह कुछ झिझक रहा है।]

कैलाश—(देखकर) आओ। कहो।

नायर—मिस सिंक्लेअर आपसे कब मिलें ?

कैलाश—लिली न ? आज से उन्हें लीला कहो। इन काग़ज़ों से निबटूँ तब भेजना। उनकी व्यवस्था तो सब ठीक है ?

नायर—सब ठीक है।

कैलाश—आश्रम का खाना उन्हें अनुकूल होता है ? देखो, मेहमान के लिए हमें अपने नियमों का आग्रह नहीं हो सकता। तुम उनसे मिलते रहते हो न ?

नायर—जी हाँ।

कैलाश—क्या ख़याल है। यहाँ रहेंगी?

नायर—अभी तो आपसे मिलने को उत्सुक हैं।

कैलाश—(सामने घड़ी देखते हुए) 'कला का क्या हाल है?

नायर—वैसा ही है। टेम्परेचर हो आता है। उन्हें काम से नहीं रोका जा सकता। हर घड़ी कुछ-न-कुछ करते रहने का आग्रह करती हैं। उन्हें आप कहीं सेनेटोरियम जाने को लाचार करें तो ठीक हो। हमारी किसी की तो सुनती नहीं।।

कैलाश—पगली है! अच्छा, तो अब मुझे छोड़ो।

नायर—मिस सिंक्लेयर को आप अभी समय दे सकते तो...

कैलाश—वह अधीर हैं?

नायर—जी, कुछ व्यग्र हैं। रुष्ट मालूम होती हैं कि मैं अमरीका से चलकर आई और पाँच रोज़ से बैठी हूँ, फिर भी आपसे मिलना न हुआ।

कैलाश—अच्छा तो अभी भेजो। (नायर को वहीं खड़े देखकर) क्यों, कुछ और?

नायर—अमरीका से यह तार भी आया है।

[तार देता है।]

कैलाश—(पढ़कर) इन्हें लिख तो दिया न कि खुशी से आवें।

नायर—मालूम होता है कि मिस सिंक्लेअर की ख़ातिर—। एक तार उनके नाम भी था।

कैलाश—तो?

नायर—मैं...फिर...देख लीजिए।

कैलाश—(खिलखिलाकर हँसते हुए) वह मैं समझा। तुम सब सरल चाहते हो। पर वक्र से हमें डरना न चाहिए। तार दे दो कि ज़रूर आवें। अच्छा, अब लीला को भेज दो। याद रखो, लीला। न मिस, न लिली।

[नायर चला जाता है। कैलाश सामने के काग़ज़ों में लगते हैं।]

कैलाश—रामदास, इनमें कोई ऐसा तो नहीं है जो कल तक ठहर सके ?

रामदास—जी, सब ज़रूरी हैं।

कैलाश—अच्छा, तो मुझे सुनाते जाओ। जवाब लिखते जाना।

रामदास—(पास बैठकर पढ़ना शुरू करता है) मज़दूरों के साथ किये मुआहिदे को फिर मालिकों ने तोड़ दिया है। हड़ताल का छठा रोज़ है। आप कब तक पहुँच सकेंगे? या तारीख दें कि हमारे प्रतिनिधि आवें।

कैलाश—शनिवार लिख दो। पाँच बजे। और देख लो कि वह वक़्त खाली है न।

रामदास—(पढ़ता है) अदायगी की तारीख आ गई है। सेठजी आपके आदेश बिना कुछ न करेंगे। ऐसा न हो कि नौबत अदालत की आवे। कृपया सेठजी को प्रेरित करें। आज्ञा दें तो सेवा में पहुँचकर मामला सब खुलासा रखूँ।

कैलाश—पटना की गोशाला की बात है न? वहाँ सिंहबाबू से तार से हाल मँगा लो। सेठजी से भी विवरण माँगो। (कुछ आहट पा ऊपर आँख उठाते हैं तो दीखते हैं नायर) आ गये ! ले आओ— (लीला का प्रवेश) आखिर पाँच दिन बाद मैं मिल तो गया ! बढ़ी चली आओ। पर देखो मैं बूढ़ा हूँ, उठ नहीं सकता।

[खिलखिलाकर हँसते हैं। लिली पास आती है। गद्दे पर ही ज़रा सरककर उसके लिए जगह कर देते हैं। पर वह पास नीचे फ़र्श पर बैठ जाती है।]

कैलाश—(मुस्कराकर) रामदास, अपने काग़ज़ छोड़ो और भागो। (रामदास चला जाता है। लिली से) गद्दे से फ़र्श ठंडा है, शायद इसी से नीचे बैठी हो। ठीक। सुना तुम इन पाँच दिन खूब तरसीं। पर मेरा क्या हाल रहा, यह भी जानती हो? मेरा तुमसे अच्छा हाल नहीं रहा। कहो, तुम्हें मालूम हुआ कि नहीं कि तुम अब लीला हो। बेशक शर्त यह कि तुम लीला होना पसन्द करो।

लिली—मैं हिन्दुस्तानी नहीं हूँ।

कैलाश—हिन्दुस्तान में तो हो। (हँसते हैं) रोम में रोमन, हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी। बोलो मंजूर ?...पर मेरा पूछना व्यर्थ है। यह साड़ी बता रही है। खद्दर की साड़ी में कैसी भली लगती हो, कुछ मालूम है ? खैर यही है कि यहाँ कोई आइना नहीं है। (खिलखिलाकर हँसते हैं) चाहती हो, आइना मँगाऊँ ?

लीला—मुझे यहाँ कई रोज़ हो गये...

कैलाश—हाँ, मैं भूला। सबसे पहले मुझे माफ़ी माँगनी थी। पर मुझे तो दौरे पकड़े रहते हैं। आज यहाँ, तो कल वहाँ। लेकिन तुम्हें आकर क्या यहाँ रह जाना था? जहाँ होता वहीं पहुँच मुझे पकड़ लेतीं। मैं तो डरता था कि अमरीका से आ रही हो तो आसानी से मुझे छुट्टी न होगी। अमरीकन पक्के शिकारी होते हैं। तुम्हें यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?

लीला—नहीं, कष्ट कोई नहीं।

कैलाश—हिन्दुस्तानी खाना चल तो जाता है ? मिज़ाज न हो तो यहाँ का खाना बुरा तो नहीं होता। (खिलखिलाकर हँसते हैं।)

लीला—मुझे यह खाना बहुत अच्छा लगता है।

कैलाश—हाँ ? तब तो हम असभ्य नहीं हैं। कला के पासवाले कमरे में ही हो न ? याद रखना, वह अब क्लेरा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम उसे समझा सको कि तपस्विनी न बने। देह सुखाने के लिए तो हमें नहीं मिली।

लिली—उन्होंने तो मुझे ऐसे रखा जैसे मैं घर में हूँ। लेकिन आप बताइए, क्लेरा के साथ मुझे भी आप अपनी शरण में रख सकते हैं ?

कैलाश—शरण! प्रभु ईसा की शरण तुमने गही, तब फिर क्या चाहिए ? और यह धरती ईश्वर की है। यहाँ कौन किसको शरण देने का दम्भ कर सकता है। तुम्हारा घर है; आओ, रहो। कहो, क्या तुम यहाँ रहना चाहती हो ?

लिली—हाँ, रहना भी चाहती हूँ। पर क्या आप कहते हैं मुझे यहाँ वह मिलेगा जो मैं चाहती हूँ ?

कैलाश—क्या, सुख ? (खिलखिलाकर हँसते हैं।)

लीला—सुख—तो नहीं , लेकिन मैं दुःख से बचना चाहती हूँ। मैं अपने से, दुनिया से बचना चाहती हूँ। मैं अमरीका से भागी आई हूँ, क्यों ? सुना था कोई हिन्दुस्तान में कैलाश है जिसे दुनिया नहीं छूती। क्या यह सच है ? यहाँ दुनिया मुझे नहीं छू सकेगी ? अगर कहो कि ऐसा है तो मैं यहाँ रहना चाहती हूँ !

कैलाश—(हँसकर) तुम्हारा सवाल तो बड़ा है। (हाथ में घड़ी लेकर उसे देखते हुए) पर अभी तो तुम हो ही। अब हम फिर शाम को मिलें। या शाम को सोने के पहले। शाम को साथ घूमने चल सकती हो।

लीला—क्या आपके किसी और काम का समय हो गया है ?

कैलाश—हाँ, सो तो हो ही गया है। वैसे भी मिलने-जुलने का समय और है। पर तुम्हें शंका की ज़रूरत नहीं है। शाम को फिर बातें होंगी। मुझे अमरीका और यूरोप के बारे में बहुत कुछ जानना है। तुमने भी तो इस छोटी उम्र में विचित्र अनुभव पाये हैं। अभी तीस की तो नहीं हुई हो न ?

लीला—अगले जन्म-दिन पर छब्बीस वर्ष पूरे होंगे।

कैलाश—(खिलखिलाकर हँसते हुए) लेकिन मैं बूढ़ा हो गया। पर देखोगी कि तुम्हारे सामने मैं तीस वर्ष का-सा दीखने का साहस करूँगा। फिर भी घड़ी पल-पल चलती है। समय किसी को जवान रहने देता है ! तुम्हारी अंग्रेज़ी की कहावत है,, Time is money लेकिन Time is much more. Money is nothing. (घड़ी आगे करके) And one time is up.

लीला—अब मैं जाऊँ ?

कैलाश—शाम को फिर मिलने के वादे पर जाओ।

लीला—मुमकिन है मैं आज ही लौट जाना चाहूँ।

कैलाश—आज कैसे लौटोगी? मुझे समय दिये बिना जा सकोगी?

लीला—देखती हूँ, मैं आपका हर्ज करती हूँ। मैं हर्ज करना नहीं चाहती।

कैलाश—तभी तो कहा, हम शाम को मिलें। समय दो कि मैं बुड्ढा भी अपना प्रेम जतला सकूँ।

[खिलखिलाकर हँसते हैं।]

लीला—प्रेम! आप उसे जानते हैं?

कैलाश—ओ राम, और मैं किसे जानता हूँ!

लीला—आपको विश्वास है, आप हृदय-हीन नहीं हैं?

कैलाश—डाक्टरों ने अभी तक ऐसा नहीं बताया। और मुझे भरोसा है कि देखकर शायद तुम भी यह फ़ैसला न दो।

लीला—आप अपना काम करें। आपको बहुत काम है। मैं आज ही लौट जाना चाहती हूँ।

कैलाश—नहीं, मुझे मौक़ा दोगी। मौक़ा देने से पहले मुझे अपराधी बनाना न्याय नहीं है। और तीसरे पहर के समय थोड़ा आराम...

लीला—आराम मुझे नहीं चाहिए।

कैलाश—(खिलखिलाकर) तो भाई, मुझे तो चाहिए। मैं बूढ़ा हूँ। और यह काग़ज़ों का पुलिंदा मेरा आराम है। ऐसी हालत में तुम इस बूढ़े आदमी पर अकृपा करोगी? मैं जानता हूँ, तुम मुझे अवसर देना चाहोगी। मैं, समय मिलते, बोलो, तुम्हारे कमरे की ओर आऊँ? देखना चाहता हूँ इस देहाती घर में तुमने अपना अमरीका कैसे सुरक्षित रखा है।

लीला—शाम आप अकेले हो सकते हैं?

कैलाश—देखता हूँ, तुम कठिन हो। तिस पर हृदयहीन मुझे कहा जाता है। (खिलखिलाकर हँसते हैं।) अकेली मेरी शाम चाहती हो, तो वह सही।

[लीला इस पर बिना कुछ बोले चली जाती है।]

कैलाश—रामदास, लो भाई, अब आ जाओ।

[रामदास पास आकर पढ़ना चाहता है। कैलाश तकिये पर झुककर मानो ज़रा विश्राम करते हैं।]

दूसरा दृश्य

[सन्ध्या, नदी का किनारा। कैलाश और लीला।]

कैलाश—चली चलोगी, या यहाँ बैठें। (नदी-तट की एक चट्टान की ओर बढ़ते हुए) आओ, बैठो।

[कैलाश बैठते हैं। ज़रा नीचे की ओर लीला भी बैठ जाती है।]

कैलाश—कहो-कहो, रुको नहीं। बस इतना याद रखना है कि प्रार्थना का समय साढ़े-सात है।

लीला—मैं कहती थी, मैं पूछना चाहती हूँ कि पाप क्या चीज़ है। मैं पाप नहीं मानना चाहती। आप सच क्या उसे मानते हैं ?

कैलाश—पाप को नहीं मानने के लिए प्रार्थना है।

लीला—मैं अब तक आश्रम की प्रार्थना में नहीं शामिल हुई। न होना चाहती हूँ। आप इससे नाराज़ हैं ?

कैलाश—बात तो नाराज़ होने की है।

लीला—तो आप नाराज़ हो सकते हैं। मैं यहाँ कुछ रोज़ रहना भी चाहता हूँ और अपने मन के ख़िलाफ़ भी कुछ नहीं करना चाहती। आप कहेंगे तो मैं नहीं रहूँगी। अगर मुझे अपनी तरह रहने देकर भी रख सकते हैं तो मैं ज़रूर यहाँ कुछ दिन रहना चाहती हूँ। मुझे जानना है कि वह शान्ति क्या है जो आपके आस-पास प्रतीत होती है। क्या वह जड़ता से कुछ भिन्न है ?

कैलाश—अच्छी तो बात है। रहो और जानो। लेकिन देखो, विद्रोह झेलने की चीज़ है। फैलाने की वह चीज़ नहीं। द्वन्द्व भड़काना नहीं चाहिए। उसकी मंदता उत्तम है।

लीला—मंदता क्या जड़ता नहीं है। संतोष भी हीनता है। आसमान कितना बड़ा है, कैसा नीला है, कैसा सूना है। चिड़िया कहाँ-कहाँ उड़ जाती है। मैं क्यों न उनकी तरह उड़ना चाहूँ। क्यों न मैं आसमान

बन जाना चाहूँ। मुझे क्यों हक़ नहीं है कि मैं बेचैन रहूँ। फिर आपकी शांति मुझे असंभव लगती है। शांति अंधे बनने में है। आँख खोलकर जो शांत है वह...उसे मैं नहीं समझती। हाँ, अगर है तो शांति पाप है। अपनी अपूर्णताओं को लेकर कोई कैसे शांत हो सकता है।

कैलाश—(मुस्कराकर) ठीक तो है!

लीला—क्या ठीक है! अशांति ठीक है। अशान्ति को आप समझते भी हैं? मैं अशान्त हूँ। मुझे बताइए मैं क्या करूँ?

कैलाश—प्रार्थना में शामिल हुआ करो।

लीला—छोड़िए प्रार्थना। मैं अपना दिल आपके सामने रखती हूँ। जी में होता है, मैं चलती रहूँ, चलती रहूँ। एक छन न ठहरूँ। आज आकाश, कल पाताल। मुझे होश रहे ही नहीं, ऐसी बेहोश रहूँ। अच्छा, सच बताइए, आपने कभी नशा किया है?

कैलाश—नहीं।

लीला—तब आप कुछ नहीं जानते। मैं चाहती हूँ नशा, जो उतरे नहीं।

कैलाश—जो नहीं उतरता, वह भी क्या फिर नशा रहा? लेकिन अगर नशा हो तो सामने देखती तो हो,—उस नशे के लिए शराब हर घड़ी हर कहीं मौजूद है। नदी बह रही है; पेड़ हौले-हौले हिल रहे हैं; घास हरियाली बिछी है; आसमान है, जो सबको लेकर फिर भी सूना है; और यह धरती जो सब सहती है और गूँगी है। इस सब कुछ के भीतर क्या वह नहीं है जो अक्षय है? वह कभी नहीं चुकता। उसका नशा कभी नहीं चुकता। उसको चाहो, उसको पाओ। वह नशा है, जो उतरेगा नहीं। वह अशान्ति में भी शान्ति देगा।

लीला—बस। मैं और नहीं सुन सकती। आपका मतलब है, ईश्वर। और मतलब है, धर्म। मुझे नहीं चाहिए ईश्वर, नहीं चाहिए धर्म। ईश्वर को मैंने ढकोसला पाया है। मैं चाहती हूँ चैन। मुझे यह भीतर से क्या उकसाहट सताती रहती है। मानो कोई कहता रहता है, 'और आगे!' 'और आगे!' ऐसा जी क्यों होता है कि सब पा जाऊँ,

और फिर उस सबको मसल दूँ। सबको पैरों के नीचे रौंद दूँ और फिर छाती से लगा लूँ!

कैलाश—(करुणा की हँसी हँसकर) मैं समझता हूँ। आज चलो प्रार्थना में शामिल होओ। मेरे विचार में शांति अपनी मर्य्यादाओं की स्वीकृति है। प्रार्थना में हम अपनी सीमाओं को कृतज्ञ भाव से स्वीकार करते हैं। प्रार्थना में हम अपने को अज्ञ मानते हैं, इसी कारण प्रार्थना से बल मिलता है।

लीला—नहीं-नहीं। अपनी मर्य्यादाएँ मुझे काटती हैं। मैं खुल जाना चाहती हूँ, जैसे हवा। जिसके लिए कहीं रोक नहीं, कहीं निषेध नहीं। जिसका नियम बस अपने में है।

[कैलाश की ओर मानो अवश भाव से देखती है। कैलाश मुस्कराते रह जाते हैं।]

लीला—आप हँसते हैं। हँसना निर्दय है। फिर भी आपके ही सामने मैं आज सब कहूँगी। आपके पास अमरीका से एक तार आया है। जो व्यक्ति आना चाहता है, वह मुझे बेहद प्रेम करता है। मैं उसके प्रेम को प्रेम करती हूँ। लेकिन उसकी भूख ऐसी है कि वह चाहता है कि मैं उसी के लिए होऊँ। मैं क्या करूँ। औरों ने भी मुझे प्रेम किया है। उन सब के प्रेम को मैंने प्रीति-पूर्वक स्वीकार किया। मैं किसी एक आदमी के लिए किसी दूसरे आदमी के प्रेम को कैसे छोड़ूँ। मैं कुछ नहीं छोड़ना चाहती। यह आदमी नरक तक मेरा पीछा करना चाहता है कि मुझे स्वर्ग में ले जाये। मुझे उसके सदाशय पर विश्वास है। मुझे उसके स्वर्ग पर विश्वास है। पर मैं वह नहीं चाहती। मुझे अपने भाग्य पर विश्वास नहीं है। वह आदमी इतना मुझे प्यार करता है कि उसका सारा प्यार मैं न ले सकी तो अचरज नहीं कि इसी पर वह मुझे मार दे। मुझे मरने से डर नहीं है। उसके हाथों मरना मुझे न लगेगा। लेकिन मुझे मारने के बाद उसकी क्या हालत होगी, यह सोचती हूँ तो डर जाती हूँ। फिर भी मैं अपने तन को उसके हाथ में नहीं सौंप सकती। मैं विवाह नहीं कर सकती। अब तक जिन्होंने मुझे

प्रेम किया, उन सब के प्रति विवाह कृतघ्नता होगी। मैं तंग हूँ। आप मुझे अपने आश्रम में रहने दें तो बड़ा आभार हो। पर मुझमें विष है जो मैंने बता दिया। मुझे इस आश्रम पर, आप पर, सब पर, ईर्षा होती है। बच्चा हँसता है तो मुझे क्रोध आता है। कोई कैसे धीर, कैसे शान्त, कैसे प्रसन्न रह सकता है, जब मुझमें इतने प्रश्न और इतनी अशान्ति भरी हुई है। कहाँ से यह सब कुछ मेरे भीतर भर आया है। अब तो मैंने पढ़ना भी छोड़ दिया है। फिर कल्पना क्यों चुप नहीं रहती? जान पड़ता है गति मुझे चाहिए,—गति, गति, गति। रुकी, कि मरी। लेकिन भागते रहने से मैं तंग हूँ। चाहती हूँ कोई मुझे जबरदस्ती पकड़ ले और रोक ले। आप क्या मुझे रोक नहीं सकते हैं?

कैलाश—तो यहाँ मत रुको। अँधेरा हो रहा है। अब चलें।

[खड़े हो जाते हैं। लीला गिरकर उसके पैर पकड़ लेती है।]

लीला—थोड़ा रुकिए। अँधेरे से मुझे डर लगता है। वह मुझे लीलने को आता है। लेकिन मैं अभी आपको यहाँ से हटने देना नहीं चाहती। प्रार्थना में क्या थोड़ी देर बहुत होगी?

कैलाश—चलो, तुम भी प्रार्थना में चलो।

लीला—ज़रा देर रुक नहीं सकते?

कैलाश—देखो यह घड़ी। यह कहती है कि चलो। इसका कहना कालदेवता का आदेश है। (हाथ पकड़कर लीला को उठाते हैं।) चलो, उठो।

[लीला चुपचाप उठकर साथ चल देती है, जैसे मंत्र-बद्ध हो। सहसा वह चिहुँकती है, चकिता-भीता-सी देखती है।]

लीला—आप वहाँ इनकार लिख दीजिए।

कैलाश—कहाँ, अमरीका? मैंने लिख दिया है कि वह ज़रूर खुशी से यहाँ आवें।

लीला—नहीं-नहीं। मैं उस राह नहीं जाऊँगी।

कैलाश—घबराओ नहीं।

लीला—मैं उधर न जाऊँगी। मैं अपने को मोड़ूँगी। मैं प्रार्थना

में शामिल होऊँगी। मैं आश्रम-वासिनी बनूँगी। उन्हें आप ज़रूर इनकार लिख दें। मैं क्लेरा से कम नहीं होऊँगी। आप फ़ौरन इनकार का तार दे दें।

कैलाश—घबराओ नहीं।

लीला—वचन दीजिए कि आप चार्ल्स को मुझ तक न आने देंगे। मुझसे न मिलने देंगे। मैं उनकी निगाह के नीचे बेबस हो जाती हूँ। उनकी आँख में जाने क्या है। लेकिन आप देखेंगे कि मैं क्लेरा से कम नहीं हूँ।

कैलाश—सुनो। अगर आश्रम की बनकर आश्रम में रहना चाहती हो, तो कल से अपने उपयुक्त काम चुन लो। यह याद रखो कि तुम सदा आज़ाद हो। अपना शासन शक्ति देता है, दूसरे का शासन बंधन है। हम सबको स्वाधीन चाहते हैं। इसलिए कैसा भी खटका तुम्हें मन में नहीं रखना चाहिए। मेरी सलाह है कि कल से कोई काम तुम अपने ऊपर ले लो। उससे चित्त स्थिर होगा।

लीला—वचन दीजिए आप चार्ल्स को मुझसे दूर रखेंगे।

कैलाश—मैं दूरी में विश्वास नहीं रखता। मैं पास होने में विश्वास करता हूँ। ऐसे पास, कि एक। मैं तुम्हें किसी से दूर नहीं, सबके पास देखना चाहता हूँ। उससे भी अधिक पास, जितने उनके हृदय। जैसे उनकी आत्मा। (कहते हुए लीला के कन्धे पर हाथ रख लेते हैं।) किससे दूरी की ज़रूरत है? सब एक हैं। घबराओ नहीं। जो अपने को निवेदित कर सकता है, वह ईश्वर का आशीर्वाद पाता है। ईश-कृपा से पाप क्षार हो जाता है। (लीला अपने मुँह को हाथों में छिपा लेती है।) ईश्वर जिसका साक्षी है, वह जग के प्रति निर्भीक बनता है। ईश्वर के प्रति कातर, मानव के प्रति निर्मम। क्यों घबराती हो?

लीला—मैं अबला हूँ।

कैलाश—बल बस प्रभु है। उसके हाथ में अबल रहना ही हमारा बल है।

लीला—वचन दीजिए कि मुझे अपनी शरण में रखेंगे।

कैलाश—हम मानव दास हैं। हम अपूर्ण हैं। ईश्वर अशरण-शरण है।

[लीला चलते-चलते एक उच्छ्वास के साथ धरती पर बैठ जाती है।]

कैलाश—क्यों-क्यों ? क्या हुआ ?

लीला—(दर्द भरे स्वर में) कुछ नहीं। मुझे छोड़िए।

कैलाश—क्या है ? कहीं दर्द उठ आया है ?

लीला—हाँ, दर्द का दौरा हो आता है। होकर फिर चला जाता है। चिन्ता न कीजिए। आप जाइए।

[छाती अपनी मसोसती है।] ।

कैलाश—पुराना रोग है ? शायद हृदय का रोग है।

लीला—हाँ, हृदय का दर्द है। कई बरस से है। आह !

[कराह के साथ दोनों हाथों से दिल को दबाती है।]

कैलाश—देखूँ, पीठ पर ले जा सकता हूँ क्या ? देखो ऐसे...

[उसे उठाने का प्रयास करते हैं और बताते हैं।]

लीला—नहीं। आप जायँ। मैं कुछ देर में आप पहुँच जाऊँगी। आपका प्रार्थना का समय आ गया है।

कैलाश—हाँ, वह समय तो आ रहा है। अच्छा, (चलते हुए) मैं जाकर किसी को भेजूँ ?

लीला—नहीं। मैं हाथ जोड़ती हूँ, नहीं।

कैलाश—अच्छा। प्रार्थना के बाद मैं ही आ जाऊँगा। इस बीच तुम ठीक होकर चली आओ तो मुझे पीछे मिलना। तुम्हारा यह रोग असाध्य नहीं होना चाहिए।

[कैलाश चले जाते हैं। उनके निकल जाने के बाद लीला माथे को धरती की घास पर डालकर छाती मसोसती हुई कराहती रह जाती है।]

तीसरा दृश्य

[कला का कमरा। कला बैठी कुछ सी रही है। लीला का प्रवेश।]

कला—लीला बहन, तुम ! क्यों, कैसे ?

लीला—कुछ नहीं। अब मैं अच्छी हूँ।

कला—मैं तुम्हारी तरफ़ ही आने की सोच रही थी। तुम्हें तो अभी चलने-फिरने से बचना चाहिए!

लीला—नहीं, मैं अब अच्छी हूँ। कल से फिर अपना काम ले लूँगी।

कला—इतना अपने को थकाओ मत, लीला! या अपने से बदला लेना चाहती हो?

लीला—और तुम जो इतना काम करती रहती हो?

कला—मेरी और बात है। तुम तो सुकुमार हो। अभी नई हो। मैं अभ्यासी हो गई हूँ। मेरे मन में अब कामनाएँ नहीं हैं। तुम क्यों अपने को खोती हो?

लीला—मैं तुम जैसी क्यों नहीं हो सकती हूँ। तुम भी कभी सुन्दरी थीं। प्रशंसकों से घिरी रहती थीं। अब भी कौन तुम्हारी ज़्यादा है! और यह कैसी शकल बना ली है?

कला—(मुस्कराकर) भाग्य!

लीला—भाग्य नहीं। सच बताओ।

कला—और क्या बताऊँ। राग-रंग में मेरा मन नहीं था। बहुत भटकी, पर मालूम हुआ जो खोजती थी वह और है। वह क्या है? भटक में यहाँ आ लगी तो अब जी नहीं है कि और भटकूँ।

लीला—कभी तुम्हें विलायत की ज़िन्दगी की याद नहीं आती?

कला—मतलब, चाह नहीं होती? हाँ, चाह नहीं होती।

लीला—किसी तरह की चाह नहीं होती? पुत्र की चाह, पति की चाह, प्रेमी की चाह।

कला—नहीं, वैसी तो चाह नहीं होती।

लीला—फिर भी समझती हो, तुम स्त्री हो?

कला—नहीं तो कौन हूँ?

लीला—मैं नहीं जानती। पर तुम स्त्री नहीं हो। सच बताओ, कैलाश को तुम प्रेम नहीं करतीं?

कला—प्रेम से अधिक करती हूँ।

लीला—फिर यह क्यों नहीं कहतीं कि तुम-जैसी हूँ ?

कला—ऐसी कैसी ?

लीला—जैसी मैं । जैसी सब ?

कला—वैसी ही तो रह रही हूँ । लीला बहन, तुम क्या चाहती हो ?

लीला—मैं चाहती हूँ कि तुम मान लो कि तुम तपस्विनी नहीं हो। चाहती हूँ कि मैं भी मान लूँ कि तुम वह नहीं हो, बिलकुल मेरी जैसी हो ।

कला—मैं बिलकुल तुम्हारी ही जैसी हूँ, लीला । बल्कि तुमसे अपात्र हूँ । इधर तो मुझे तुमने लज्जित ही कर दिया है । ऐसी कठोर साधना तो...

लीला—मैं जो रात को तीन बजे उठकर जाड़े में तमाम आश्रम में झाड़ू देने लगती हूँ, इसको तुम साधना कहती हो !

[हँसती है ।]

कला—और क्या कहूँ । देखती हूँ, तुम्हें अपने तन की सुध नहीं है । इधर आश्रमवासियों को तुमने अपने कठोर श्रम से मोह लिया है। तुम्हारे व्यवहार की मिठास मैंने और जगह नहीं पाई । सब तुम्हारी प्रशंसा करते हैं । फिर तुम अपने से क्यों नाराज़ हो ?

लीला—तुम नहीं जानतीं । तुम नहीं जानतीं । साधना !

[खिलखिलाकर हँसती है ।]

कला—ऐसे न हँसो, लीला ! तुम्हारी तबीयत अभी ठीक नहीं है।

लीला—मेरी तबीयत ठीक हो जायगी । तबीयत ढीलने से बिगड़ती है । कल से फिर सफ़ाई का काम मेरा है और यह काम पौ फटते तक मैं निबटा लूँगी । कल से टट्टी-घर साफ़ करने का काम भी मुझे दे दो । थोड़े काम से मेरा जी नहीं भरता और रोग हावी होने लगता है ।

कला—क्या कह रही हो ? अभी तीन रोज़ तुम्हें किसी तरह के काम करने की इजाज़त नहीं होनी चाहिए । लीला, तन से युद्ध न ठानो । चलो, तुम्हारे कमरे में चलें । आराम करना ।

लीला—आराम से मैं तंग हूँ। चार रोज़ से और क्या कर रही हूँ। तुम कहती हो कि रात को तीन बजे उठकर जो बुहारी लगाने लगी, सो बड़ा काम किया। (हँसती है।) पर रात में पहर के पहर जागते काटना उससे आसान नहीं है। तब उठकर करने को काम पा जाती हूँ, तो चैन पा जाती हूँ। नहीं तो...और तुम कहती हो, साधना!

[खूब हँसती है।]

कला—देखती हूँ, तुम्हारी तबीयत ख़राब है। ऐसे बोलना-हँसना ठीक नहीं।

लीला—नहीं, तुम चिन्ता न करो। सब ठीक है। तबीयत मेरी ख़राब नहीं है। यह बताओ, कला बहन, तुम कि हम जीते क्यों हैं। तुम क्यों जी रही हो। मैं क्यों जीऊँ। बताओ, मैं क्यों जीऊँ।

कला—तुम्हारे उपवास का आज तीसरा रोज़ है, लीला! ज्यादा बोलना कमज़ोरी लायगा।

लीला—उपवास कहाँ है। सब टूट गया। कैलाश बाबू आये और अपने हाथ से संतरे का रस पिला गये। उनके आगे किसी की हठ चलती है!

कला—चलो यह अच्छा हुआ।

लीला—तुम लोग जाने कैसी बात करती हो। खुद उपवास पर उपवास करती हो, मुझे मना करती हो, कैलाश ज़रा बात पर अनशन रखते हैं, मुझे एक जून खाना नहीं छोड़ने देते। देखती हूँ, तुम लोग स्वार्थी हो। मुझे बताओ, कैलाश क्या ऐसे हैं। वह तुम्हारे कौन हैं?

कला—कैलाश बन्धन-मुक्त आत्मा हैं। मैं बस उनके प्रकाश में चल रही हूँ।

लीला—मालूम है, कहाँ चली जा रही हो?

लीला—कहाँ पहुँचूँगी, नहीं मालूम। चल ठीक रही हूँ तो पहुँचा गलत जगह नहीं जायगा। हम तो चल ही सकते हैं। पथ का अन्त तो पथिक के हाथ में नहीं है।

लीला—तुम चल सकती हो, क्योंकि पास प्रकाश है। और चलने

के लिए जी सकती हो। मेरे पास प्रकाश नहीं। पर गति तो भीतर भरी हैं। सवाल है कि चलूँ तो किधर। अँधेरे में चला तो जाता नहीं, टकराया भर जाता है। टकराते रहने को मैं कैसे जीऊँ। कभी जी होता है कि कहीं जाकर ऐसी टकरा पड़ूँ कि टूटकर चुक जाऊँ। कला, मुझे तुम अपने प्रकाश को दे सकती हो?

कला—लीला बहन, तुम क्या कह रही हो। तुम्हारा चित्त कैसा है। चलूँ, कैलाश क्या कर रहे हैं। कहूँगी, तुम्हें देखें।

लीला—नहीं नहीं। उनसे मुझे डर लगता है। वह मुझसे ऐसे बात करते हैं, जैसे मैं बच्ची हूँ। बताओ कला, क्या तुम्हें उनका डर नहीं लगता।

कला—लगता है। तभी तो चाहती हूँ, उन्हें खबर कर दूँ। उनकी ताकीद है कि तुम्हें उद्विग्न देखूँ तो उन्हें सूचना दे दूँ। मुझे उनकी क्षमा से और भी डर लगता है। वह क्षमा से दण्ड देते हैं।

[चलना चाहती है।]

लीला—(कला को रोककर) नहीं नहीं। मत जाओ। मैं उद्विग्न नहीं हूँ। क्या मैंने अब तक सब काम ठीक नहीं किया। देखोगी अभी भी वैसे ही सब काम ठीक निभाऊँगी। तुम उन्हें मेरे बारे में यह मत कहना कि मैं हार सकती हूँ। कला, वह मेरे बारे में कभी कुछ कहते हैं?

कला—तुम्हारी उन्हें चिन्ता रहती है। वह कहते हैं कि तुम शायद यहाँ से जल्दी चली जाओगी। क्या ऐसा तुम सोचती हो?

लीला—मैं? नहीं, वह मुझे कमजोर समझते हैं, इसलिए ऐसा कहते हैं। मैं क्यों जाऊँगी, कला। तुम यहाँ सब छोड़कर रह रही हो तो मैं क्यों नहीं रह सकती। मैं रह सकती हूँ। मैं उधर अब नहीं देखूँगी। वह मुझे ठीक क्यों नहीं समझते।

कला—मैं उन्हें कहूँगी, कि तुम यहाँ ही रहना चाहती हो, जाओगी नहीं।

लीला—हाँ, नहीं जाऊँगी। क्या वह चाहते हैं जिससे बच सकी हूँ उसी में फँसूँ? मुझे जाने कब अवसर मिला है तो क्या उसको भी मैं छोड़ दूँगी। कला, उन्होंने मेरे विषय में तुम्हें कुछ और कहा?

कला—नहीं, कुछ नहीं कहा।

लीला—कला! कला! तुमने किसी से प्रेम किया है?

कला—क्या कह रही हो, लीला!

लीला—समझ नहीं आता कि प्रेम को लेकर कोई क्या करे। मैं किसी का प्रेम नहीं चाहती। मैं नींद चाहती हूँ। प्रेम में नींद नहीं है। क्या प्रेम में सुख है?

कला—क्या कह रही हो!

लीला—कुछ नहीं। तुम कैलाश बाबू को कुछ न कहना। मैं अब जा रही हूँ। मेरी तबियत अब ठीक है। तो भी तुम्हारे कहने से अब जाकर लेट जाऊँगी। लेकिन कल से मेरा सफ़ाई का काम पक्का है।

कला—नहीं, यह नहीं हो सकता। अभी तुम काम के योग्य नहीं हो।

लीला—हो सकता है। मैं खुद कैलाश बाबू के पास जाकर कह देती हूँ कि मैं अब अच्छी हूँ और कल से अपना काम सँभालती हूँ। बस, तुम इसमें कुछ न बोलना।

कला—लीला!

लीला—मैं अभी ही जा रही हूँ। मुझे तुम जैसे बनने का अधिकार क्यों नहीं है। (चल देती है।)

कला—अभी जा रही हो? अभी तो...

लीला—हाँ, कहूँगी कि किसने कहा कि मैं ठीक नहीं हूँ।

कला—लीला!

[लीला चली जाती है।]

चौथा दृश्य

[लीला का कमरा। लीला आती है। उसके हाथ में झाड़ू है, बाल फैले हैं, चेहरे पर धूल है। झाड़ू एक ओर रख देती है और शीशा देखती है। देखकर आइना दूर कर देती है और पास एक ओर बाल्टी से पानी लेकर मुँह धोती है। धोकर फिर आइना देखती है। बाल ठीक

करती है और फिर कपड़े बदलना आरम्भ करती है। इसी समय बाहर द्वार पर थपथपाहट होती है।]

लीला—कौन ?

आवाज़—मैं चार्ली।

लीला—कौन! (प्रसन्न होकर सहसा सोच में पड़ जाती है।) ठहरो। (जल्दी-जल्दी कपड़े ठीक करती हुई दरवाज़े की ओर जाती है। पास पहुँचकर फिर सोच में पड़ जाती है।) मिलने का समय यह नहीं है।

आवाज़—मैं चार्ली हूँ, लिली। (उत्तर न पाकर) मुझे आने की इजाज़त दो।

लीला—अभी नहीं। अभी मैं तैयार भी नहीं हुई।

चार्ली—आधे घंटे में फिर आऊँ ?

लीला—अच्छा।

चार्ली—अच्छा—

[चार्ल्स के लौट जाने की आवाज पाकर दरवाज़ा खोलती और लौटते हुए चार्ल्स को देखती है। चार्ल्स जाते-जाते ठहरता है, क्षण-इक असमंजस में रुकता है और वापिस लौट आता है। देखता है, लीला द्वार खोले खड़ी है। लीला को समय नहीं मिलता कि दरवाज़ा बन्द कर दे।]

चार्ल्स—(पास आकर) मैं देर न लूँगा। निबट लो, तब और बातें होंगी। लेकिन मुझे याद आया कि तुम्हारी मा की बीमारी की ख़बर मुझे देनी है—

लीला—आओ, अन्दर बैठो।

चार्ली—यह समय अन्दर आकर बैठने का है ?

लीला—तुम नाराज़ हो ? मेरी मा बीमार है। मैं बीमार हूँ। फिर तुम नाराज़ हो !

चार्ली—यह तुमको क्या हुआ है। यहाँ किस जगह आ गई हो। अपने को यह क्या बना डाला है। कभी आइना भी देखती हो ? मा का कुछ हाल-चाल रखती हो ?

लीला—मैं क्या करूँ ?

चार्ल्स—चलो, घर चलो।

लीला—घर चलकर क्या करूँ ?

चार्ल्स—यहाँ रहकर क्या कर रही हो ? अपना परलोक ठीक कर रही हो ? परलोक को मैं नहीं जानता। लेकिन इस लोक को बिगाड़ने से ही क्या वह बनता है, लिली ?

लीला—तो मुझे ले क्यों नहीं चलते।

चार्ल्स—ले चलूँगा। उसी के लिए आया हूँ। लेकिन तुम्हारी तबीयत को यह क्या हो गया है। ऐसी क्यों बोलती हो। जैसे तुम्हारी अपनी कोई इच्छा ही नहीं है।

लीला—यहाँ अपनी कोई इच्छा न रखने का धर्म सिखाया जाता है।

चार्ल्स—तभी तो...

लीला—चार्ली, यह ग़लत नहीं है। इच्छाएँ हमें सताती हैं। हम पहले चाहते हैं। फिर उस चाह में रोते हैं।

चार्ल्स—बिना इच्छा के जीना चाहती हो ? फिर जीना ही क्यों चाहती हो ? पर वह सब छोड़ो। बोलो, चलोगी ? मा का सदमा दूर होगा। अपने पीछे मा को तो मत भूलो। मेरी फिक्र मुझे नहीं। ज़िंदगी तीन-चौथाई तो कट ही गई। बाकी बरस भी इधर-उधर बिता दूँगा। उनकी तैयारी करके आया हूँ। पीछे कुछ नहीं छोड़ा। सब नक़द बनाकर पास कर लिया है कि जब जैसे चाहे लुटा सकूँ। तुम अमरीका नहीं चलतीं और यहाँ हिन्दुस्तान में तपसिन बनकर रहना चाहती हो, तो वैसा कहो। तब मैं भी परिव्राजक की तरह डोलता फिरूँगा। और धन की ऐसी फुलझड़ी जलाऊँगा कि बुझने से पहले उसका प्रकाश तुम भी सराहोगी।

लीला—चार्ली मुझे क्षमा करो। तुम क्या चाहते हो ? मैं वह नहीं हूँ जो तुम समझते हो।

चार्ल्स—मैं क्या समझता हूँ।

लीला—विवाह चाहते हो ? मैं विवाह के योग्य नहीं हूँ। मेरा...

चार्ल्स—मुझसे इस तरह की बातें न करो।

लीला—मेरा तन मलिन है।

चार्ल्स—चुप करो। बको मत। मैं देवियों में विश्वास नहीं करता। वह बात बार-बार कहकर मेरा अपमान क्यों करती हो। मैं बड़ा पवित्र हूँ न !

लीला—हागथ को तुम जानते हो। विलियम को तुम जानते हो। मैं सब तुमसे कह चुकी हूँ। उन सबके प्रति अकृतज्ञ भी मैं कैसे बनूँ। चार्ली, तुम इतने समझदार, इतने नेक—मुझ व्यभिचारिणी को तुम दुतकार क्यों नहीं देते। मुझे नरक के लिए छोड़ दो। विवाह मेरे लिए नरक है और तुम-जैसों का प्रेम मेरे लिए यातना है। उस प्रेम का प्रतिदान मेरे दिये दिया जायगा ? इसी से कहती हूँ, चार्ली, मुझे इस आश्रम की कठोरता से अलग न करो।

चार्ल्स—(लीला का हाथ पकड़कर) क्या तुम ईश्वर के सामने कह सकती हो कि मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं हूँ, कि मैं तुम्हारा ही नहीं हूँ ? तब तुम मुझे स्वीकार करने से विमुख कैसे हो सकती हो ? लिली, मुझे यहाँ का सब कुछ अमानवी मालूम होता है। यहाँ एक मनुष्य है, वह कैलाश, और वह महान् है। लेकिन उसका यह आश्रम तो Sub-humans का कारखाना है। चलो, यहाँ से चलो। मैं तुम्हें ले चलूँगा। क्या तुम्हें चाहिए। जो धन दे सकता है, वह मैं दे सकता हूँ। हम दोनों सागरों पर विहरेंगे और हवा में तिरेंगे। प्रेम का देवता हम दोनों के साथ रहेगा। जगत के सब धन्धे दूर रहेंगे। मेरे पास बहुत काफ़ी है। कोई अभाव पास फटकने न पायगा। चलो, लिली, चलो।

[लीला का हाथ चूमता है जिस पर मानो वह नीली पड़ आती है। वह अपने हाथ को एकदम खींच लेती है और भौंचक चार्ल्स को देखती रह जाती है।]

चार्ल्स—लिली ! प्यारी लिली ! ओ मेरी अपनी लिली !

लीला—(एकदम अलग खड़ी होकर) ओः, यह क्या करते हो !

आश्रम है, यह आश्रम है! यहाँ मैं प्रभु की हूँ। कैलाश बाबू मुझ पर विश्वास करते हैं। चार्ली, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ।

चार्ल्स—मुझे माफ़ करो। लेकिन सच तुम्हें क्या हो गया है, लिली?

लीला—मैं नहीं कहती मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी। लेकिन जब तक यहाँ हूँ, मुझसे दूर रहो। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। (सहसा, स्तंभित, सामने देखती रह जाती है।) ओः!

चार्ल्स—क्या हुआ?

लीला—(चित्र-लिखी-सी) उन्होंने देखा तो नहीं!

चार्ल्स—कौन? किसने?

लीला—कैलाश बाबू आ रहे हैं।

चार्ल्स—(मुड़कर देखते हुए) आने दो।

कैलाश—(पास आकर) लो, तुम दोनों यहाँ अच्छे मिले। लीला, इनको भी हिन्दुस्तानी बनाने का इरादा है कि नहीं। चार्ली, यह तो ठेठ भारतीय बनाने की ठान चुकी मालूम होती हैं। क्यों लीला?

चार्ल्स—कोई अपने को कहाँ तक बदल सकता है।

कैलाश—(हँसकर) यह तो लीला बतलायगी। यह भी ठीक है कि मनुष्य अपने को नहीं बदल सकता। वह आत्म-खण्ड है। लाख कोशिश पर भी कुछ और नहीं हो सकता। क्यों लिली? चार्ली, तुम आश्रम के और भाई-बहनों से मिले?

चार्ल्स—कुछ से मिला। मैं इस सबसे सहमत नहीं हूँ। आप यहाँ मनुष्य की शक्ति कम करते हैं।

कैलाश—(हँसकर) संशोधन सुझाइए। मैं तो सीखना चाहता हूँ। मुझे ऐसे ही लोग चाहिएँ जो जल्दी सन्तुष्ट न हों। निर्मम आलो-चक। लेकिन अभी तो—लीला, तुम्हारी दरख्वास्त नामंजूर होती है। (हँसकर) नया काम तुम्हें और नहीं मिलेगा। मैंने सिफ़ारिश की है कि पुराना भी छिन जाय। अपने से बैर ठानना क्यों। इस बार बाहर जाऊँगा तो तुम साथ चलना चाहोगी?

चार्ल्स—लेकिन यह तो यहाँ रहना नहीं चाहतीं।

कैलाश—यह बात है! तब तो सब ठीक है। तुम कहो, जी।

लीला—यह खबर देते हैं कि मेरी मा ज्यादा बीमार हैं। मेरे अकेली वही हैं। आप कहते हैं न कि मुझे जाना चाहिए?

कैलाश—तुम्हारे दो भाई भी तो हैं न। क्या वे सेवा में नहीं हैं? अगर वहाँ व्यवस्था ठीक हो तो तुम्हारा वहाँ जाना बच भी सकता है। वैसे शायद यह जगह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। यहाँ तुम्हीं देखो, क्या है?

चार्ल्स—क्या मैं अनुमान करूँ कि आप इन्हें जाने से रोकना चाहते हैं?

कैलाश—नहीं। बल्कि चाहता हूँ कि यह अपने देश जावें। आश्रम-जीवन तो कोई चाहे सब जगह साथ रह सकता है। घर क्या आश्रम नहीं है? क्यों लीला? जाने में झिझकती हो?

लीला—मैं फिर आ जाऊँगी। मा के अच्छे होने पर आ जाऊँगी।

कैलाश—जब चाहे आओ। संस्कृत का वाक्य याद है न—वसुधा ही हमारा कुटुम्ब हो। तुम हम सबको कुटुम्ब जैसा मानो तब तो बात है। मान सकोगी? क्या अमरीका, क्या हिन्दुस्तान, सब परमात्मा की गोद है।

लीला—मैं मा को देखने के लिए जा रही हूँ!

कैलाश—जाओ जरूर। पर यह तो काफ़ी कारण नहीं है। क्यों चार्ली, तुम्हारे रहते क्या मैं इनको यक़ीन नहीं दिला सकता कि इनकी मा को कोई ख़तरा नहीं है?

चार्ल्स—मैं अभी मुमकिन है भ्रमण पर और आगे निकल जाऊँ। अभी पूर्व की विचित्रताएँ काफ़ी देखना बाक़ी हैं।

कैलाश—(गंभीर वाणी में) क्या आप याद दिलाना चाहते हैं कि वह आपकी तो मा नहीं हैं, और इनकी हैं। लेकिन यह तो आपके लिहाज़ से कोई बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए।

चार्ल्स—आपका आशय...

कैलाश—लीला अभी स्वस्थ नहीं है। मा के स्वास्थ्य-लाभ में क्या वह विशेष सहायता पहुँचा सकेगी? ऐसे समय आप कहने आये हैं कि वह मा ज्यादा बीमार हैं। यह ठीक है। लेकिन इस सूचना से उसे कष्ट पहुँचाने के साथ क्या आप यह आश्वासन भी नहीं दे सकते कि उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। मैं समझता हूँ आप लीला की अस्वस्थावस्था में उसे दंड नहीं देना चाहते। मेरी सलाह होगी कि आप हवाई जहाज़ से वापिस लौट जावें और वहाँ से खबर दें कि मा ठीक हो रही हैं।

चार्ल्स—आपकी ध्वनि से मालूम होता है कि आप भूलते हैं कि मैं आश्रम-वासी नहीं हूँ।

कैलाश—मुझे क्षमा करें। लेकिन मैं अनुमान करता हूँ कि इस लड़की के स्वास्थ्य की आपको चिन्ता होनी चाहिए। उसका चित्त स्वस्थ नहीं है। अच्छा हो कि वह आपके साथ चली जावे। लेकिन मा की चिन्ताकुलता के कारण जाना स्वास्थ्य के लिए ठीक न होगा। तब क्या यह उपाय नहीं है कि आप हवाई जहाज़ से वापिस चले जावें ताकि उन्हें दिलासा हो। क्या आप इन्हें इतना प्रेम नहीं करते?

चार्ल्स—लेकिन मैं इन्हें यहाँ इस पागलों की बस्ती में नहीं छोड़ सकता।

कैलाश—हाँ, यह तो ठीक है। लेकिन जाना हो तो मेरी सलाह है कि समुद्र से नहीं, हवा से जाओ। समय की बचत होगी और पैसा...

चार्ल्स—उनकी फ़िक्र नहीं है।

कैलाश—हाँ, पैसे की फ़िक्र न होनी चाहिए। लीला, यह खुशी है कि यह तय है, तुम अब जा रही हो। यहाँ के लोग एकदम तो नहीं, लेकिन हाँ थोड़े-थोड़े पागल ज़रूर होंगे। पर फिर भी तुम उनको याद रख सकती हो। अब मैं चलूँ।

लीला—तो आपकी इजाज़त है?

कैलाश—(हँसकर) ज़रूर इजाज़त है।

लीला—(एकाएक) लेकिन क्या मैं यह तय नहीं कर सकती कि मैं न जाऊँ?

कैलाश—उसकी भी इजाज़त है।

लीला—तो मैं नहीं जाऊँगी।

कैलाश—सोच देखो।

[कैलाश चले जाते हैं। लीला कुछ देर उन्हें जाते हुए देखती रहती है। ओझल होने पर दोनों हाथों से मुँह को ढँक लेती है और सुबकने लगती है। फिर वह सिर को घुटनों पर डालकर अवश हो रहती है।]

चार्ल्स—लिली! लिली!

[उसके कमर में हाथ डालता है।]

लीला—हट जाओ। मुझसे न बोलो। ओ ईश्वर, मैं क्या करूँ?

चार्ल्स—लिली, डीयर, चलो, यहाँ से चलो।

लीला—(मुँह उठाकर) मुझे क्यों मार रहे हो? मुझे जबर्दस्ती उठाकर क्यों यहाँ से एकदम भगा नहीं ले चलते हो। मैं यहाँ रहूँगी। मर जाऊँगी, पर अपने आप नहीं जा सकती। तुमसे इतना भी नहीं होता कि बलात्कार करो और मुझे ले जाओ। मुझसे तुम्हें इतना डर लगता है? कहती हूँ, ले जाओ। नहीं तो मैं खो जाऊँगी।

चार्ल्स—चलोगी?

लीला—तुमको शर्म नहीं आती कि पूछते हो, चलोगी? मैं चलने न चलनेवाली कोई नहीं होती। जाओ, हट जाओ मेरे सामने से।

[चार्ल्स अवश भाव से बैठकर उसको दोनों कंधों से पकड़कर थामता है।]

चार्ल्स—मैं ज़रूर तुम्हें यहाँ से ले चलूँगा। लिली! लिली!!

[लीला एकटक सामने देखती रह जाती है। मानो गूँगी हो और आँखें पथरा गई हों।]

कामरेड

[क्रान्तिकारियों में लड़के-लड़की परस्पर स्वाभाविक असंकोच से काम करते हैं और सैक्स के भेद को भूल जाते हैं। किन्तु पुरानी रूढ़ियों में पले व्यक्ति उनके सामाजिक सम्बन्धों को पुराने बटखरों से तौलते हैं और अपने सन्देह से उन्हें बेधा करते हैं। उनके दिमाग़ में बस एक ही लिंग-भेद की शाश्वत समस्या रहती है। इस प्रकार आज हमारा समस्त सामाजिक वातावरण दूषित है।

यही विषय 'कामरेड' एकांकी ने उठाया है। 'कामरेड' की भाषा अंग्रेज़ी से कुछ बोझिल किन्तु चुस्त, चलती हुई है। बातें पार्टी, मज़दूरों और क्रान्ति की होते हुए भी 'कामरेड' कथानक वही पुराना त्रिकोण बन गया है: 'अ' प्यार करता है 'ब' को, 'ब' 'स' को। वास्तव में एकांकी के ताने-बाने रनजीत की रमेश के प्रति ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता से बने हैं और 'कामरेड' एक प्रेम-कहानी मात्र रह गया है।]

गणेशप्रसाद द्विवेदी

रनजीत—आज इतनी रात को तुमने कामरेड शीला को यहाँ क्यों बुलाया है रमेश ?

रमेश—तो इसके लिए तुम्हें इतनी परीशानी क्यों है ?

रनजीत—यह लो ! तुम तो मानो पहले से ही लड़ने पर तुले हुए हो ! ज़रा इधर तो देखो । यह लो, ज़रा सिगरेट तो पिओ ।

रमेश—Thank you Comrade Ranjit ! ओफ़ ओह ! इतना हाई क्लास सिगरेट और यह सुनहला सिगरेट केस ! फिर यह लाइटर ! भाई, हम ग़रीब मुल्क की खिदमत करनेवालों को यह ज़ेब तो नहीं देता, पर तुम भी आखिर अपने कामरेड ठहरे, तुम्हारा हुक्म नहीं टाल सकता, लाओ एक पी लूँ ।

[लाइटर जलाने की आवाज़]

रनजीत—मगर देखो रमेश, हम लोग योंही बदनाम हैं । लीला की उम्र ही अभी क्या है । यही अठारह-बीस साल । और तुम भी पचीस से ज्यादा न होगे । इत्तफ़ाक से दोनो ही खूबसूरत हो । यूनिवर्सिटी में जिस साल तुम बी० ए० में थे, स्पोर्ट चंपियन भी तुम ही हुए थे ।

रमेश—अच्छा यह सब तो ठीक है, पर तुम्हारा मतलब क्या है ? ज़रा खुलकर कहो ।

रनजीत—कहूँगा, ज़रूर कहूँगा । बहैसियत पार्टी के मेम्बर के कहना हमारा फ़र्ज़ हो जाता है । उम्मीद है तुम हमारी सलाह पर अमल करोगे । कई बार मैं इशारा कर चुका, पर तुम कुछ ख्याल ही नहीं करते । मैं बहुत सीरियस हूँ । अबकी अगर तुमने ध्यान न दिया, तो लाचार होकर मामला मुझे पार्टी की executive committee के सामने रखना पड़ेगा ।

रमेश—(हलकी हँसी की आवाज़) मालूम होता है कि पार्टी के सबसे ज़ोरदार और influential मेंबर आप ही हैं और services भी आपकी सबसे ज्यादा कीमती हैं !

रनजीत—देखो भाई आपस में यह जली-कटी बातें ठीक नहीं। हमने माना कि तुमने अपनी कुर्बानियों की बदौलत पार्टी को अपने बस में कर लिया है। इतना Brilliant career! first class first M. A. और फिर एक लखपती के घर के इकलौते बेटे। आज तुम कहीं गवर्नर के साथ चाय पीते हुए दिखाई देते। पर तुमने अपनी सारी उम्मीदें और अरमान देश के लिए निछावर कर दिये। और मैं तीन साल का इंटर का फेलियर। काम भी मुझसे कोई खास नहीं होता।

रमेश—अरे भाई तुम भी तो मिल ओनर के लड़के हो। मोटर पर चढ़कर पार्टी की बैठकों में आते हो...

रनजीत—अच्छा, अच्छा रहने दो—काम की बात सुनो—मैं जो कह रहा था—तुम्हारी यह दिन-दूनी रात चौगुनी शीला स बढ़ती हुई रब्त-जब्त ठीक नहीं। पार्टी के हक़ में भी और समाज के हक़ में भी। पार्टी के खास मेम्बर हो तुम दोनो। और कहीं कुछ हो गया तो सारी पार्टी बदनाम क्या चौपट ही हो जायगी।...देखो ज़रा हमारी ओर मुख़ातिब हो। चुपचाप उधर मुँह किये सिगरेट पीते जा रहे हो गोया मैं कुछ पागल हूँ, जो अनाप-शनाप बके जा रहा हूँ! याद रखो जब तक मैं मेंबर हूँ यह सब न होने दूँगा। मैं बतौर दोस्त के एक बार और तुम्हें चेतावनी दे देता हूँ। पर दोस्ती के लिए तुम्हारी हरकतों से अपनी संस्था को बदनाम न होने दूँगा।

रमेश—मेरी ह...र...क...तें...!

रनज़ीत—(चढ़ी आवाज़ में) बेशक तुम्हारी हरकतें—बल्कि तुम्हारा शोहदापन...

रमेश—(डपटने की आवाज़ में) Shut up, old fool! I hope you are not dead drunk today!

[कुछ झटका-झटकी की आवाज़ जैसे दो आदमी लड़ रहे हों]

'तुम्हारे मा-बाप ने जान पड़ता है बहुत कुछ सोच-समझकर तुम्हारा नाम रनज़ीत रखा था। इसी ताक़त पर हाथ उठाने चले थे। बने तो छुड़ा लो हाथ...(कुर्सी पर छप से बैठने की आवाज़) अब

सीधे से भले आदमी की तरह बैठो और कहो, जो कहना हो। मुझे खुशी है कि पार्टी की खैरियत के लिए तुम्हें दर्देसर तो होने लगा। मगर पहले यह तो बताओ भले आदमी, आज यकायक इतना पारा क्यों चढ़ गया ?'

रनजीत—(भर्राई आवाज, रुक-रुककर) देशसेवा के बहाने तुम्हारी ऐयाशी देखकर।

रमेश—(गंभीर आवाज में) अच्छा अब तुम अपने एतराज़ात ज़रा साफ़ लफ्ज़ों में कहो। यह तमाशा काफ़ी हो चुका।

रनजीत—शीला एक नौजवान औरत है।

रमेश—तभी तो वह हम लोगों की कामरेड हो सकी है।

रनजीत—इस कामरेडशिप की भी कोई हद है।

रमेश—तो क्या मैं तुम्हारे ख्याल से उस हद के बाहर चला गया ?

रनजीत—इस तरह रात को काम के बहाने तुम्हारे पास उसका आना दुनिया या समाज की नजरों में कैसा होगा ?

रमेश—हमारे कामरेडशिप या दल का पहला कानून है, समाज की दकियानूसी बातों का खातमा करना। तुम्हें मालूम है हमारे दल की पहली शर्तें क्या थीं।

रनजीत—तुम्हीं ज़रा याद दिला दो।

रमेश—अच्छा मैं बतलाता हूँ। पहली शर्त यह थी कि हम लोग कोई convention न मानेंगे, या दूसरे लफ्ज़ों में हम लोग लकीर के फ़क़ीर न रह सकेंगे। दूसरे हम लोग aristocracy तोड़ देंगे या यों कहो कि अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े के फ़र्क़ को मिटा देंगे। दुनिया में सबका मर्तबा बराबर करना हमारा फर्ज़ होगा। फिर हम लोग एक नया समाज तैयार करेंगे, जिसमें किन्हीं खास कानूनों की पाबन्दी न हो सकेगी। क्यों यही हैं न ?

रनजीत—हाँ हैं तो कुछ ऐसी ही !

रमेश—तो ऐसी हालत में तुम समझ सकते हो कि समाज ने एक नौजवान औरत के लिए जो क़ानून अर्से से बना रखे हैं, उन्हें तोड़कर

हम लोग बेजा हरकत नहीं कर रहे हैं, बल्कि उन्हें तोड़ना हमारा फ़र्ज़ ही है। कामरेड शीला को आज रात को यहाँ काम है इसी लिए वह यहाँ आवेंगी।

रनजीत—या यों कहो कि शीला की सोहबत की तुम्हें ज़रूरत है इसलिए वह यहाँ आवेंगी।

रमेश—यह भी एक तरह से कह सकते हो।

रनजीत—शर्म तो न आई होगी ऐसा कहने में!

रमेश—शर्म काहे की।

रनजीत—काम के बहाने ऐयाशी का इन्तज़ाम! यह शर्म की बात नहीं है?

रमेश—देखो रनजीत, बार-बार तुम एक गंदी बात कहकर अपनी दिमागी गन्दगी का एलान कर रहे हो। शीला औरत है, शीला कमसिन है, शीला खूबसूरत है, पर यह बातें हमारे लिए कोई मानी नहीं रखती। हमें सिर्फ़ इतने से वास्ता है कि वह हमारी कामरेड है। अभी जब वह यहाँ हाजिर होगी तो मैं एक कामरेड के नाते ही उससे अभिवादन करूँगा न कि एक औरत के नाते।

रनजीत—मगर यह appointment दस बजे रात में न होकर दिन में भी तो हो सकता था।

रमेश—अच्छा! तो तुम्हारे ख्याल से दिन में औरत औरत नहीं रह जाती!

रनजीत—तो भी—रात—

रमेश—ठहरो। अब तुम्हें ज्यादा मग़ज-पच्ची न करनी होगी। बात सिर्फ़ यह है कि औरत को तुम sex से अलग करके दिमाग़ में ला ही नहीं सकते। तुम सिर्फ़ इतना ही जानते हो औरत महज़ एक ऐयाशी का सामान है। इसके सिवा औरत और भी कुछ हो सकती है वह शायद अभी तुम न सीख सके!

रनजीत—तुम्हारी यह सब बातें मेरी समझ में नहीं आतीं।

रमेश—नहीं आतीं तो घर जाकर सो रहो, बेकार क्यों अपना मिजाज खराब कर रहे हो।

रनजीत—जा—ऊँ—गा—पर जरा शीला—

रमेश—(ज़रा डपटकर) ठहरो, कामरेड शीला कहो।

रनजीत—उसके आने पर ज़रा पूछूँगा, किस काम से तुमने उसे बुलाया था।

रमेश—और अगर वह तुमसे न बतावे।

रनजीत—तो उसे मोटर पर उसके घर पहुँचा आऊँगा।

रमेश—और अगर वह तुम्हारे साथ जाना न पसन्द करे।

रनजीत—तो पार्टी के प्रेसीडेंट की भरी इजलास में बाक़ायदा तुम दोनों के नाम नालिश करूँगा और पार्टी को मजबूर होकर तुम लोगों का नाम ख़ारिज करना पड़ेगा या तुम लोगों को सबके सामने चाल-चलन सुधारने का वायदा करना होगा।

रमेश—तो हम लोगों का चाल-चलन दुरुस्त किये बग़ैर मानोगे नहीं तुम !

रनजीत—चाल-चलन की कमज़ोरी से हमारे दल का नुक़सान हो सकता है।

रमेश—नौजवान औरतों और मर्दों का आपस में मिलना दुनिया में और कहीं भी बुरे चाल-चलन में शुमार नहीं किया जाता।

रनजीत—मगर हमारे हिन्दू-समाज में तो ऐसा ही होता है।

रमेश—हिन्दुस्तान को एक ideal हिन्दू समाज बना डालने का ठेका तो हम लोगों ने लिया नहीं है। मुल्क के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख, अमीर, गरीब, छोटे-बड़े सबको इन्सानियत की एक क़तार में बैठाकर प्रेम और मुहब्बत का रस पिलाने का ही हम सपना देखते हैं। पग-पग पर हमारा शास्त्र क्या कहता है, समाज क्या कहता है और दुनिया क्या कहती है यह देखने का अब वक्त नहीं रहा। ज़रा ज़माने की तब्दीली की ओर देखो और दिल में नई रोशनी के लिए भी कुछ गुंजायश करो। अब इस तरह काली हाँड़ी की तरह शकल

बनाये रखने से काम न चलेगा। ज़रा यह तो सोचो हम किधर जाना चाहते हैं और क्यों जाना चाहते हैं।

[कुर्सी खिसकाने की आवाज़]

रनजीत—तुम क्या कहना चाहते हो कि अगर हम चाहें तो अपने देश और समाज का पुराना culture भूल सकते हैं ?

रमेश—अच्छा तो आप ताव में आकर ज़रा खड़े तो हुए। मगर सुनो तो, मैं यह कब कहता हूँ कि तबियत होते ही हम अपनी पुरानी तहज़ीब भूल जा सकते हैं। बल्कि उसे भूल जाने की जरूरत में भी मुझे अन्देशा है। मैं तो कहूँगा, हमें अपनी पुरानी तहज़ीब फिर से याद कर लेने की जरूरत है। हम उसे क़तई भूलकर न जाने किधर भटक गये। जमाने का ख्याल करके जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हम अपनी पुरानी तहज़ीब को ही नये सिरे से सजाकर उसे ऐसा जामा पहना दें, जिससे संसार के और बढ़े-चढ़े मुल्कों के साथ क़दम रख सकें। हमारी पुरानी तहज़ीब उसी शकल में जिसमें वह पहले थी अब हमारे उतने काम की नहीं है।

रनजीत—तो बक़ौल तुम्हारे हमें अपनी-अपनी क़ौम की ख़ासियत भूल जाना होगा ?

रमेश—ओफ़ोह ! तुम हमारा मतलब बिलकुल नहीं समझे। तुम इस इतने बड़े मुल्क में कौन-कौन-सी क़ौम की ख़ासियत बचा रखना चाहते हो। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी वग़ैरह सबों की अपनी-अपनी अलग खासियतें हैं। सभी का मजहब, तहज़ीब, रहन, सहन, खान-पान, कपड़ा-लत्ता तक अलग-अलग हैं। सबकी ख़ासियतों को, ज्यों-का-त्यों अटूट रखने की कोशिश में जो आपस की मुख़ालफत इस पैंतिस करोड़ के महादेश में पैदा होगी, वह सबको एक साथ ही नेस्त-नाबूद न कर देगी ? सारी Indian nation इस विरोध की चक्की में पिस जायगी ? क्या यह सीधी-सी बात तुम्हारी समझ में नहीं आती ?

रनजीत—तो इस मुख़ालफ़त के डर से हम अपना सब कुछ भूल जायँ ?

रमेश—सब क्यों भूलने लगे ? भाई तुम तो—बस रहे—

रनजीत—अच्छा एक-एक करके चलो।

रमेश—कहो, मैं बता चलता हूँ—

रनजीत—अच्छा पहले मज़हब से चलो। क्या तुम्हारी राय में अपना धर्म भूल जाना चाहिए ?

रमेश—धर्म से अगर तुम्हारा मतलब Communalism, fanaticism, या religosity से है, अगर मज़हब से तुम सिर्फ़ मन्दिर, मस्जिद नाम पर लड़ना ही समझते हो तो मैं कहूँगा कि देश या क़ौम को कोई भी फ़ायदा न पहुँचेगा इससे। और धर्म से अगर तुम Spiritualism या virtue समझते हो तो मैं कहूँगा इसी की तो ज़रूरत है और इसको भूलने के बदले ज़रा ठीक से याद कर लेना होगा।

रनजीत—ऐ—सा—!

रमेश—जनाब ! हूँ—मानो आसमान से गिरे ! मानो एकदम कोई नई बात सुन रहे हो !!

रनजीत—हाँ, कुछ नया-नया-सा ज़रूर मालूम हो रहा है।

रमेश—अच्छा तो एक और नई बात सुनो। यह पूजा, पाठ, दुर्गा, चण्डी, पंडा, वग़ैरह-वग़ैरह के पहले भी हिन्दू धर्म की एक शकल थी, यह तुम जरूर जानते होगे, इतने मूढ़ नहीं हो सकते। आज शुरू की असल चीज़ को छोड़कर आख़ीर की बनावटी चीज़ के पीछे परीशान होकर ही हम गलत रास्ते पर जा पड़े हैं। पर इतना याद रखो—हिन्दू धर्म के नाम पर सर ऊँचा करने का जो कुछ है वह यह सब पंडों वगैरह की आमद के पहले—बहुत पहले—अपना जल्वा फैला चुका था।

रनजीत—अच्छा-अच्छा, बस करो। शीला की बात हो रही थी, यह कहाँ का पचड़ा तुमने छेड़ दिया।

रमेश—पचड़ा ! अच्छा ख़ैर—मगर छेड़ा इसे तुम्हीं ने। पर मैं देखता हूँ, शीला को तुम एक मिनट के लिए नहीं भूल सकते।

रनजीत—शीला हमारी पार्टी की मेम्बर है। उसकी ख़ैर से हमको

सरोकार नहीं होगा तो किसको होगा? तुम्हारा जैसा रंग-ढंग देख रहा हूँ, उससे यह साफ़ ज़ाहिर है कि किसी भी जवान औरत को तुम्हारे पास अकेले आना खतरे से खाली नहीं है। शीला अगर अकेली आई—

रमेश—तो मैं उसे समूची निगल जाऊँगा—यही न?

रनजीत—उसकी उम्र अठारह से ज्यादा न होगी!

रमेश—इसी से तो वह तुम सरीखे दस से ज्यादा काम कर सकती है।

रनजीत—वह खूबसूरत है।

रमेश—इसी से वह सब पर अपना असर डाल सकती है।

रनजीत—वह बड़ी इमोशनल (भावुक) है।

रमेश—इसी से वह मुल्क के ग़रीबों-अपाहिजों का दुःख नहीं देख सकी और घर के बाहर क़दम रखकर उनका दुःख भरसक दूर करने में पिल पड़ी है।

रनजीत—और ठीक इसी से मुझे डर है कि एक दिन तुम्हारे चक्कर में पड़कर वह अपना सब कुछ खो बैठेगी।

रमेश—मैं देखता हूँ तुम कामरेड शीला को पहचान नहीं सके।

[कुछ लोगों के बातें करते हुए आने की आवाज़ जैसे सीढ़ी चढ़ रहे हों]

रनजीत—सुनो—किसी के पैर की आहट आ रही है। शायद आ गई शीला।

रमेश—सीढ़ी पर नालदार देशी जूतों की आवाज़ से जान पड़ता है कुछ दिहाती लोग भी उसके साथ हैं।

रनजीत—मालूम होता है वह तुम्हें पहचान गई है, इसी से लठैतों को साथ लेकर आ रही है।

रमेश—मगर मेरे अन्दर जिस खौफ़नाक जानवर को देखकर तुम घबरा उठे हो उसे शायद उसने नहीं देखा—

[दर्वाज़ा खुलने की आवाज़। रमेश की आवाज़ में—Good evening, Comrade Shila, रनजीत की आवाज़ में—Goo

evening, Comrade Shila, स्त्री की आवाज़ Good evening Comrades! कुर्सी खींचने की आवाज़ ।]

शीला—बहुत देर तो नहीं हुई मुझे? ये दोनों विचारे मनकापुर कॉटन मिल के मज़दूर हैं। आज चार बजे से ही मेरे पास आये हुए हैं।

रमेश—अरे भाई तुम लोग फ़र्श पर क्यों बैठते हो। अफसोस, कुर्सियाँ ज्यादा नहीं हैं, अच्छा मेरे तख़्त पर बैठ जाओ।

मजदूर नं० १—नहीं बाबूजी, हम लोग ग़रीब मज़दूर हैं। हमारे लिए यही ठीक है।

रमेश—कौन कहता है तुम गरीब हो। तुम्हारे ही दिये हुए खाने-कपड़े से दुनिया पल रही है और नित नये-नये फैशन बदलकर गुलछर्रे उड़ाती है। तुम गरीब बने तो आपस में संगठन न होने से। आदमी सब बराबर होते हैं परमेश्वर के दरबार में। बैठो तख़्त पर।

रनजीत—विचारे इतने दबे हुए से आ रहे हैं मानो कोई भारी कसूर किया हो।

शीला—कामरेड रनजीत भी यहीं मिलेंगे, यह मैंने ख़्वाब में भी नहीं सोचा था!

रनजीत—मेरी वजह से कोई दिक्कत हो—तो कहिए मैं अपना रास्ता लूँ। कार बाहर खड़ी है।

शीला—नहीं नहीं आप बुरा मान गये? माफ़ कीजिएगा। यह मेरा मतलब नहीं था। कार आपकी है बाहर, मैं देखती आ रही हूँ। पर बात यह है कि मैं एक निहायत ज़रूरी काम से आई हुई हूँ। इनकी मिल में आज पन्द्रह दिन से हड़ताल चल रही है। इन विचारों को सूखी रोटियों के भी लाले पड़ रहे हैं। अलावा इसके तरह-तरह के और जुल्म इनके ऊपर जो हो रहे हैं वह ऊपर से। हमारे यूनियन के एक मेंबर ने इन्हें मेरे पास भेजा है। इनका सारा बयान सुनने पर मैं फ़ील करती हूँ कि हमारी पार्टी को इन्हें भरसक मदद करना चाहिये। क्या आप Kindly जा सकेंगे, कामरेड रनजीत?

रनजीत—अगर मैं न जा सका तो कामरेड रमेश तो जरूर ही जा सकेंगे। क्यों भाई।

रमेश—ज़रूरत पड़ने पर ज़रूर जाऊँगा।

रनजीत—क्यों भाई, तुम लोग हमें ले जाना चाहते हो?

नं० १—बाबूजी, हम लोगों को सहारा देनेवाला कोई नहीं है। आपके चलने से हमको कुछ ढाढ़स बँध जायगा। मगर...

रनजीत—यह 'मगर' क्या भाई?

नं० २—(जरा बूढ़े की-सी आवाज़)—मैं बताता हूँ बाबूजी, यह अभी बच्चा है, क्या समझे। बात यह है कि चल तो आप लोग सकते हैं, पर क्या वहाँ टिक सकेंगे?

रनजीत—इसका खौफ तुम लोग न करो। यह जो साहब को देख रहे हो—

रमेश—मैं साहब-वाहब नहीं हूँ भाई, मैं भी तुम्हारी ही तरह एक आदमी हूँ।

रनजीत—यह साहब बड़े जीवट के आदमी हैं। एक दफा जाकर फिर टस से मस होनेवाले नहीं हैं।

नं० २—अब हम क्या अर्ज़ करें बाबूजी। उन लोगों ने गुण्डे लगा रखे हैं। अगर कोई बाहरी जाता है तो उसे जान जोखिम ही समझें।

नं० १—ख़ून तक हो गया है सरकार!

रमेश—देखो भाई, तुम हम लोगों को सरकार क्यों कहते हो। अच्छा, यह बताओ तुम्हारी मिल में कुल कितने मज़दूर हैं!

नं० २—तीन हजार से क्या कम होंगे--क्यों अलगू?

अलगू--कुछ ऊपर होंगे चौधरी।

रमेश--क्या सब हड़ताल में शामिल हैं?

चौधरी--नहीं सर...बाबूजी सब होते तो का रहा। करीब डेढ़ हज़ार बैठे हैं। कुछ लालच, कुछ डर से बहुत तो खिंच गये।

अलगू--जुल्म-जबरदस्ती से आजकल में बहुत और काम पर है जायँगे।

रमेश--हूँ...(कुर्सी खिसकाने, चलने और सिगरेट जलाने की आवाज़...कुछ देर सब चुप)

रनजीत--देखिए, रमेश भाई खिड़की के बाहर सर निकाल कर किसी गहरे विचार में डूब गये हैं मानो उनके लिए हमलोग कमरे में हैं ही नहीं। (कुछ देर चुप) आप भी किसी गहरी सोच में जान पड़ती हैं।

शीला--हूँ...

रनजीत--अच्छा ये फैशन डिज़ाइनर्स भी बला के होते हैं। क्या अनोखी सूझ होती है इनकी! यह मकड़ी के जाले की शकल का इयररिंग! माफ़ कीजिएगा, मगर इतना ज़रूर कहूँगा कि आप के कानों में यह ऐसा फब रहा है कि बस देखते ही बनता है।

शीला—मगर इन बिचारों की निस्बत क्या कहते हैं ?

रनजीत—वह कामरेड रमेश कहेंगे। जानती तो हैं, वह ज़्यादा बात नहीं करते। सालिड वर्क जानते हैं। वह ऐसी फ़िक्र में डूबे हुए हैं--कोई ताज्जुब नहीं, बग़ैर कुछ कहे-सुने अभी इन दोनों को साथ लेकर चल पड़ें।

शीला—और आप ?

रनजीत—मैं—आपका हुक्म हो तो मैं भी जा सकता हूँ, पर एक ज़रूरी काम आ पड़ा है। कल Socialist Woman's Association में मुझे Socialism through class struggle पर एक स्पीच देनी है। देखिए, आपको भी तकलीफ करनी होगी।

शीला--मैं शायद ही जा सकूँ।

रनजीत—नहीं-नहीं, आपको चलना ही पड़ेगा। बोलते वक्त आपको सामने देखकर मैं न जाने क्यों बहुत अच्छा बोल जाता हूँ। लोगों ने इस बात को मार्क भी किया है। अभी कल ही कामरेड ज़ाकिर इसी बात को लेकर मुझे आड़े हाथ ले रहे थे।

शीला--मगर इन लोगों के बारे में फिलहाल क्या किया जाय ?

रनजीत—कामरेड रमेश सोच रहे हैं। इन्हें ज़रा सोचने दीजिए। चौधरी, देखो घबराने की कोई बात नहीं है। वह साहब जो दूर उस

खिड़की के पास खड़े ग़ौर कर रहे हैं, अभी कोई-न-कोई तदबीर निकाल ही लेंगे तुम्हारा मामला हल करने की। देखिए कामरेड शीला, एक दिन की बात मुझे बहुत अक्सर याद आती है। मैं शायद जन्म भर न भूल सकूँगा। उस दिन मुहम्मद अली पार्क में मेरी एक स्पीच थी। आप इत्तफ़ाक से टेबुल के बहुत करीब ही बैठी हुई थीं। वह आसमानी रंगवाली जार्जेट की साड़ी आप पहने हुए थीं। सूरज डूब रहा था। उसकी लाल किरणें आपके चेहरे पर पड़ रही थीं। सच कहता हूँ, मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो आज़ादी की देवी मेरे सामने बैठी है। मैं तो जानता नहीं। पर और लोगों का—खासकर कामरेड ज़ाकिर कसमियाँ कहते हैं कि ऐसा मैं आज तक कभी नहीं बोला !

रमेश—कामरेड शीला ! (गंभीर आवाज़)

शीला—(कुर्सी खिसकाने की आवाज़) यस् कामरेड रमेश !

रनजीत—कामरेड शीला ! आप खड़ी क्यों हो गईं ? बैठिए। देखिए मैं कह रहा था न ये अभी कोई-न-कोई तदबीर सोच ही लेंगे।

रमेश—इनकी मिल में कब जाना ठीक होगा ?

शीला—क्यों चौधरी क्या कहते हो ?

चौधरी—बाबूजी, अगर आप चलना ही चाहते हैं तो कल सवेरे की गाड़ी से ही ठीक होगा।

रमेश—अच्छा, कल सुबह ही चलूँगा।

रनजीत—कामरेड शीला ! देखिए मैंने क्या कहा था।

शीला—आप भी तो जा सकते थे।

रनजीत—जा तो ज़रूर सकता था। पर मैंने अभी-अभी आपसे अर्ज़ किया न, पबलिक वर्कर को मरने की भी फ़ुर्सत नहीं होती, there is not a moment I can call my own आप अकेली यहाँ आनेवाली थीं, इसी से अब तक रुका हुआ था। अच्छा तो अब इजाज़त हो। (कुर्सी खिसकाने की आवाज़)

रमेश—क्यों, चल खड़े हुए ? तुम तो कामरेड शीला को कार पर घर पहुँचा आने को थे न ?

रनजीत—कार अब भी हाज़िर है, अगर कामरेड शीला चाहें तो—

शीला—अभी इन लोगों की बाबत और बातें करनी हैं। इनके रहने का भी कुछ इन्तजाम करना है।

रनजीत—बेहतर है। तो आप लोग काम कीजिये। I wish you success Ramesh, good night all. (पैर की आहट, दरवाज़ा खुलने की आवाज़, फिर पैर की आहट) Pray don't forget to attend my lecture tomorrow Comrade Shila (फिर दरवाज़ा बन्द होने की आवाज़, सीढ़ी उतरने की खटखट, Fade.)

शीला—अच्छा मज़े का आदमी है! खाली गप हाँकेगा, काम के पास भी नहीं फटकने का।

रमेश—देखो चौधरी, अब तो कुर्सी खाली हो गई है, कम-से-कम तुम तो बैठ ही जाओ।

चौधरी—बाबू, कुर्सी हम लोग के बैठने की जघा नहीं है, और फिर जब से हम लोग आये तब से आप खड़े ही हैं तो भला हम कैसे बैठ सकते हैं, और अब हम लोग के इजाजत भी मिलै क चाही।

शीला—इतनी रात को कहाँ जाओगे।

चौधरी—अभी ग्यारह बजनेवाली गाड़ी मिल जायगी! तड़के चार बजे पहुँच जायँगे, बाल-बच्चों की भी फिकर है। वहाँ गुंडों का राज हो रहा है। कोई पुछंता नहीं है।

अलगू—बाबूजी! मारपीट, खून हंगामा भी तो चल रहा है न। घर में औरत-बच्चे हैं। इज्जत-आबरू भगवान रखें!

चौधरी—एही सबसे तो बाबूजी फिर एक बार हाथ जोड़के कहते हैं आप न चलैं। हम लोगों पर जो कुछ बीतेगी भोग लेंगे। भगवान न करें कहीं आपको कुछ हो गया, फिर तो खून की नदियें बह जायगी।

रमेश—नहीं-नहीं, इन बातों की नौबत न आवेगी, तुम लोग मार-पीट की बात तक न सोचना। सत्याग्रह का सबसे बड़ा दुश्मन है मार-पीट। अच्छा तो हम कल सुबह की गाड़ी से चलेंगे। दो-एक आदमी से ज्यादा स्टेशन पर न आना और न किसी को कानो-कान खबर हो।

कोई भीड़-भड़क्का, जलूस-वलूस की बात हरगिज़ न सोचना, नहीं तो रास्ते में ही दंगा हो जायगा और हम तुम्हारी कोई मदद न कर सकेंगे।

चौधरी—बहुत ठीक बाबू, ऐसा ही होगा। हम लोगों को हुकुम होय।

शीला—जावो भाई, कोई फिकिर न करना और हम लोग हर तरह से तुम्हारी मदद करेंगे।

(दरवाज़ा खुलने, बन्द होने की आवाज़। सीढ़ी उतरने का शब्द Fade. कुछ देर ख़ामोशी। फिर किसी के सीढ़ी चढ़ने की आवाज़, दरवाज़ा खुलता है, Fade)

शीला—पहुँचा आये?

रमेश—हाँ।

शीला—अच्छा तो क्या आप अकेले जायँगे?

रमेश—पहले वहाँ की हालत तो ज़रा देख-समझ लूँ! बिना Situation को ठीक तौर से समझे अभी से कुछ कहा नहीं जा सकता।

शीला—अगर आप पर कोई मुसीबत आये तो?

रमेश—ऐशो-आराम की ज़िन्दगी का तो मैं आदी नहीं हूँ।

शीला—मैंने ही आपको इसमें जान-बूझकर जैसे झोंक दिया।

रमेश—आपने एक सच्चे कामरेड का ही काम किया है।

शीला—कामरेड रनजीत भी तो जा सकते थे।

रमेश—उन्हें तो यहीं के कामों से फ़ुर्सत नहीं है।

शीला—जी हाँ—बहुत काम हैं उनको! वाह रे उनके काम! (हँसने की आवाज़।)

रमेश—मैं देखता हूँ, आप उनके कामों की क़द्र नहीं करतीं!

शीला—सच बात तो यह है कि मुझे उनकी सूरत से चिढ़ है। I Simply can't stand him.

रमेश—मेरी निस्बत भी आपके ऐसे ही ख्याल होंगे।

शीला—अच्छा! आप ऐसा सोचते हैं?

रमेश—नहीं तो क्या आप मुझे उस झंझट में झोंक देतीं बक़ौल आपके।

शीला—क्या करती, कामरेड का ही काम किया है मैंने बक़ौल आपके।

(सम्मिलित हास्य—fade)

रमेश—अच्छा तो क्या कामरेड के काम का दर्जा दिली मन्शा के दर्जे से ऊँचा होता है ?

शीला—इतने दिन तक यही तो तालीम दी है आपने, क्या भूल गये ?

(थोड़ी देर शांति)

'क्यों चुप हो रहे ? ठीक कह रही हूँ न ?'

रमेश—आपकी इयररिंग के बारे में रनजीत क्या कह रहा था ?

शीला—उसकी बात छोड़िए।

रमेश—मगर हमारी तो वही बात कहने की तबीयत हो रही है।

शीला—अगर आपने वही बात कही होती, तो इतना बुरा न लगता।

रमेश—क्यों ?

शीला—आपके कहने का ढंग ही ऐसा होता है कि अच्छा लगता है।

you can say things so nicely !

(a little silence. footsteps, fade.)

रमेश—अच्छा, अब आपका टर्न आया खिड़की के पास जाकर खड़े होने का !

(नीरवता)

रमेश—Comrade ! (silence, footstep, fade)

रमेश—अच्छा। हम दोनों बहुत अच्छे वर्कर हैं, क्यों हैं न कामरेड शीला ?

शीला—मगर मैं ड्रीमर भी हूँ। मेरे पास दिल भी तो है !

रमेश—मगर नहीं, जब तक काम है, तब तक हमें अपनी दिली बात सोचने की फुर्सत कहाँ। और काम कभी खतम नहीं होने के।

शीला—ऐसा? (light chuckle. a little silence) देखिए, आप हमारी तरफ़ मत देखिए। (again suppressed laughter)

रमेश—बहुत हँस रही हैं।

शीला—(after renewed laughter) अच्छा, अदन के बाग़ का सेब पहले किसने खाया था; Adam ने या Eve ने?

रमेश—हूँ...जानती हैं, मर्द के दिल में काम करने का हौसला पहले किसने पैदा किया था?

शीला—नहीं।

रमेश—औरत ने।

शीला—आप क्या कामरेड रनजीत की तरह कोई स्पीच शुरू करना चाहते हैं?

रमेश—But I can say things so nicely

(Combined laughter—Fade.)

रमेश—इन मजदूरों ने अच्छा ही किया जो आपको मेरे पास लाये।

शीला—वे नहीं, मैं ही उन्हें यहाँ ले आई।

रमेश—साथ न लाकर अगर उन्हें अकेले ही मेरे पास भेज देतीं तो आपसे फिर शायद मुलाकात इस जिन्दगी में न होती!

शीला—क्यों? मगर अब मैं ऐसा सोचती हूँ कि उन्हें यहाँ न लाना ही ठीक होता।

रमेश—क्यों आप ऐसा सोचती हैं?

शीला—इसलिए कि फिर वहाँ आपके जाने का सवाल न पैदा होता।

रमेश—मगर हम लोगों का तो काम ही है यही।

शीला—वे कहते हैं कि वहाँ खून-खराबे भी चल रहे हैं।

रमेश—इसी से तो जाने के पहले एक बार आपसे मिलकर ही खुशी हो रही है।

शीला—अच्छा, फर्ज कीजिए आप नहीं ही गये तो कैसा ?

रमेश—तो वे सब क्या करेंगे ?

शीला—तो क्या सिर्फ उन्हीं की बात सोचिएगा ?

रमेश—क्या आप उन्हीं की बात सोचकर उन्हें यहाँ नहीं ले आईं ?

शीला—तब क्या पता था कि वहाँ खून-खराबा चल रहा है।

रमेश—हाँ खून-खराबा। हम लोगों के रास्ते में फूल कब बिछे रहते हैं।

शीला—मगर उनकी हड़ताल हम लोगों की राय से तो हुई नहीं है।

रमेश—यह बहुत दूर का सवाल है। हमारा काम है जहाँ कहीं भी आग लगे उसे चलकर बुझाना।

शीला—और खुद उसमें जल मरने का खौफ न करते हुए।

रमेश—जल मरने के डर से चुप-चाप न बैठ रहते हुए।

शीला—क्या इसी से हमारे देश का भला होगा ?

रमेश—मगर इतनी चिन्ता क्यों हो रही है ! इतना अन्देशा क्यों ?

(Sound of thunder, gradually sound of rainfall)

शीला—यह लीजिए, पानी भी आया। आजकल जाड़े की रात का पानी कैसा तो जँचता है !

रमेश—जाड़े अब कहाँ हैं, अब तो बहार है, बल्कि कुछ-कुछ गर्मी भी पड़ने लगी है।

शीला—मेरी तो ठठरी काँपने लग गई।

रमेश—यह इस तेज़ तूफ़ानी हवा की वजह से। आइए अब खिड़की के पास से। बैठ जाइए, मैं आपको अपनी लोही उढ़ा दूँ, मगर पहले कुर्सी पर तो बिठला दूँ आपको।

(a little silence)

शीला—आपने तो मुझे इस तरह उठा लिया जैसे कोई गोद के बच्चे को उठाता हो।

रमेश—क्या करता, आप सर्दी से जकड़ी जा रही थीं और फिर भी उस खिड़की पर से हटना ही नहीं चाहती थीं, जबरन बिठलाना पड़ा।

(A little silence, कपड़ा झटकने की आवाज़)

रमेश—अब लीजिए यह लोही उढ़ाये देता हूँ। अब आराम से बैठिए। मैं तब तक थोड़ी चाय बना डालूँ।

(स्टोव जलाने की आवाज़)

शीला—इतनी आसानी से यह सब काम आप कर डालते हैं।

रमेश—रोज़ का काम ही है यह सब।

शीला—यह सब न करना पड़े, ऐसा क्यों नहीं किया अब तक?

रमेश—यानी अब तक शादी क्यों नहीं की मैंने?

शीला—हाँ, ठीक यही।

रमेश—तो क्या शादी करने पर सब कामों से रिहाई मिल जाती? बल्कि सुबह से शाम तक तेली के बैल की तरह जुते रहना पड़ता!

शीला—क्या दुनिया में सभी को यही करना होता है?

रमेश—सुना है जो मर्द ऐसा नहीं करते, उनकी बीवियाँ उनकी क़द्र नहीं करतीं।

शीला—क़द्र के लायक़ मालिक मिलना भी क्या बहुत मुश्किल नहीं है?

रमेश—क्या करने से आदमी क़द्र के लायक़ होता है?

शीला—यही जो अभी आपने बताया—रात-दिन जुते रहने से।

(सम्मिलित हास्य)

रमेश—हम लोग कामरेड न होकर अगर—

शीला—रुके क्यों, हाँ हम लोग कामरेड न होकर अगर—

रमेश—चीनी का डब्बा मैंने जाने कहाँ रख दिया। मिल ही नहीं रहा है!

शीला—(after a chuckle) अच्छा तो आपका यही मतलब था न कि हम दोनों अगर कामरेड न होकर मियाँ-बीवी होते तो मैं सारे दिन आपसे काम लेती। यही न, क्यों?

रमेश—चाकू मैंने न जाने कहाँ रख दिया, क्या बताऊँ मेरी मेमरी बड़ी खराब है! कुछ टोस्ट भी बना लेते।

शीला—अच्छा, हमारी बात का यक़ीन नहीं हो रहा है क्यों?

रमेश—अच्छा, एक चीज़ और खाइएगा? मेरी मा ने कुछ गरी की बर्फ़ियाँ भेजी हैं।

शीला—तो ज़रूर खायँगे, लाइए एक देखूँ।

रमेश—बस उसी मा को छोड़कर मेरे और कोई नहीं है। यों हैं तो सभी, पर मेरे लिए दुनिया में वही एक है।

शीला—लाइए, मैं चाय बना डालूँ जल्दी से। आप रोटी खाइए। देखिए, कैसा बराबर काम कर रहे हैं हम दोनों, आपसे अकेले मेहनत नहीं ले रही हूँ।

रमेश—वाह! यह खूब रही, हम लोग कामरेड जो हैं।

शीला—मियाँ-बीवी होने पर भी मैं ऐसा ही करती।

[टेबुल पर ही पॉट वग़ैरह की खटखट]

रमेश—अगर पानी न रुका...

शीला—तो क्या घर से बाहर निकाल दीजिएगा क्या?

रमेश—घर में कुछ कह नहीं आई हैं?

शीला—घर में सबसे मेरी बोल-चाल बन्द है।

रमेश—सब नाराज़ हैं शायद आपसे।

शीला—नाराज़ न होंगे? अब बताइए, ग्यारह बज चुके और मैं आपके यहाँ बैठी हूँ। यह ख़बर तो उन्हें मिलेगी ही।

रमेश—कौन कहेगा?

शीला—वही कामरेड रनजीत मेरे छोटे भइया से कह देंगे। वह जाकर मा से कहेगा।

रमेश—अगर पानी न आता तो आप अब तक घर पर होतीं।

शीला—मगर पानी के रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ता है कि सारी रात यहीं रहना होगा।

रमेश—तो दिक़्क़त क्या है। किराए की गाड़ी तो आ ही जायगी।

आप टोस्ट नहीं खा रही हैं। मगर चाय कितनी अच्छी बनाई है आपने। सब चीजें बिलकुल ठीक हैं। यों तो चाय बनाने से आसान कोई चीज नहीं है। पर कितने लोग हैं जो चाय ठीक बना सकते हैं। कहीं शकर ज्यादा है, तो कहीं दूध; तो कहीं ठीक मौके से चाय नहीं डाली गई। असल में यह आप ही लोगों का काम है।

शीला—वाह! होटलों में तो मर्द ही यह सब करते हैं!

रमेश—अच्छा एक प्याली और लीजिए।

शीला—नहीं।

रमेश—अच्छा तो मैं एक गाड़ी का इन्तजाम करूँ। अभी रिमझिम लगा ही हुआ है। जल्दी निकलनेवाला नहीं मालूम होता।

शीला—न निकलना ही अच्छा है!

रमेश—अच्छा!

शीला—आप तो मानो आसमान से गिरे। मुझे बरसाती मौसम बड़ा अच्छा लगता है। मैं यहाँ बैठी-बैठी आपका सितार सुनूँगी।

रमेश—सितार!

शीला—मैंने सुना है आप निहायत उम्दा सितार बजाते हैं।

रमेश—अर्से से सितार छुआ तक नहीं!

[A little silence, then sound of tuning a Sitar]

शीला—आप अपने को सोशल वर्कर या सोशलिस्ट जाने क्या-क्या कहते हैं, पर असल में आप एक कवि हैं।

रमेश—जिन्दगी में एक लाइन भी शायरी नहीं लिखी मैंने अब तक!

शीला—मगर मिजाज आपका बिलकुल शायराना है।

[सितार में मियाँमलार का आलाप शुरू होता है।]

शीला—क्या मौके का राग शुरू किया है आपने! उस्ताद लोग कहते हैं यह राग मियाँ तानसेन की ईजाद है। इसी से इसका नाम मियाँ की मलार पड़ा। शाह अकबर को यह बहुत पसंद था। यह भी legend है कि इसी राग से मियाँ ने एक बार जाड़े में पानी बरसाया था।

रमेश—ओफ ओह, इतनी मालूमात है रागों की आपको!

शीला—आप बनाते हैं। अच्छा, मगर इसकी तासीर से तो पानी और भी बरसेगा।

[यकायक कुछ देर बाद सितार बंद हो जाता है और रमेश काँपती आवाज़ से कहता है।]

रमेश—हम लोग सिर्फ कामरेड हैं, शीला !

शीला—(उसी तरह भरे गले से) नहीं-नहीं, हम लोग सिर्फ आदमी हैं। बग़ैर किसी slogan या adjective के हम लोग सिर्फ आदमी हैं। You are a man and I am a woman.

[The curtain falls here and when again it rises the scene is the same and the time is about 8 in the next morning.]

द्वितीय दृश्य

रमेश—चा पी लो, तुम तो अभी तक चादर ताने पड़ी ही हुई हो।

शीला—मेरी आँख ही नहीं खुलना चाहती। (अलसाई आवाज़। अँगड़ाई का शब्द।)

रमेश—मुझे नौ बजे की गाड़ी पकड़नी है।

शीला—ओफ, अभी बहुत देरी है। आओ मेरे पास बैठो, अपना हाथ दो।

रमेश—शीला !

शीला—कहो।

रमेश—वहाँ अगर मुझे ज्यादा दिन लग जायँ ?

शीला—मैं लौट आने को न कहूँगी।

रमेश—मगर मन मेरा बराबर यहीं लगा रहेगा।

शीला—इस सूने घर का इतना मोह क्यों ?

रमेश—घर तो मेरा अब सूना नहीं रहा। साथ ही मन भी भर गया।

शीला—नफ़रत से तो नहीं ?

रमेश—नाज़ से, तुम्हें पाने के नाज़ से !

[Sound of somebody coming upstairs, then a loud knock and Ranjit's voice]—

रनजीत—Good morning Comrade Ramesh ! अरे ! अभी तैयार नहीं हुए क्या भाई ! गाड़ी का वक्त हुआ। चलो, तुम्हे स्टेशन तक पहुँचा आवें।

शीला—खोल दो दरवाज़ा।

रमेश—तुम्हें इस हालत में देखकर—

शीला—सबसे पहले इसी को देखना चाहिए इस हालत में !

रमेश—सब जगह बुराई करता फिरेगा।

शीला—तुम्हारे पाँव पड़ूँ खोल दो जल्दी से। मैं उठूँगी भी नहीं। मुझे इस हालत में देखकर उसका मुँह कैसा बनता है यह मैं देखूँगी ही। लाओ चाय की प्याली दो, मैं तकिये के सहारे लेटे-लेटे चाय पीती रहूँगी।

[Door opens. A moment's silence.]

रनजीत—(Shocking voice) एं—आप ! तुम यहाँ और इस हालत में !

शीला—हम लोग रात भर जगे हैं। सुबह के ज़रा-सा पहले कुछ नींद आ गई थी।

रमेश—लो एक प्याली चाय पी लो।

रनजीत—मैं ? चाय पीऊँगा और तुम दोनों के हाथ की ! लानत है !

[in voice trembling with emotion and rage, sound of smashing a tea cup on table, then the banging of the door and hurried footsteps down-stairs. Combined laughter, prolonged and repeated.]

रमेश—अभी हँस रही हो, पर वह सारे शहर में बाँटता फिरेगा तब ?

शीला—तब तक हम लोग शहर के बाहर होंगे।

रमेश—तुम कहाँ जाओगी ?

शीला--जहाँ तुम जाओगे। रात तुम्हारे साथ रहकर अब मेरे लिए और कहाँ जगह है ।

रमेश—ठीक है, ऐसा ही होगा, चलो हम लोग चल पड़ें ।

शील--अब एक बार कहो, कामरेड शीला। अबकी बार का कहना ठीक होगा।

'राम-राजो'

['राम-राजो' बाल-जीवन का एक रम्य चित्र है ; इसे पढ़कर हमें जैनेन्द्रजी की प्रसिद्ध कहानी 'खेल' का स्मरण आता है। वही छोटे भाई-बहनों का सरस बाल-सुलभ हँसी-खेल, लड़ाई-झगड़ा और असीम स्नेह दोनों रचनाओं के जीवन-प्राण हैं। 'राम-राजो' फूल-सी हल्की रचना है, जिसे बाल-बूढ़े सभी मन से पढ़ सकते हैं। इसके कथानक और प्रवाह में पानी-सी स्वाभाविक तरलता है और वही मिठास और कोमलता। इस एकांकी का अभिनय बच्चे तक कर सकते हैं।]

हरदयाल सिंह 'मौजी'

[एक कमरा, उसमें भाई-बहन दो बालक और उनकी मा। बालक (राम) के हाथ में एक नई गेंद। समय सुबह ७ बजे।]

रम्मू—अम्मा! आज मैं स्कूल नहीं जाऊँगा।

मा—क्यों नहीं जायगा।

रम्मू—नई गेंद से खेलने को जी हो रहा है।

अम्मा—नहीं, बेटा! पढ़ आओ, आकर खेलना।

रम्मू—नहीं, अम्मा! बहुत-बहुत जी हो रहा है। आज मैं नहीं जाऊँगा।

[गेंद उछालने लगता है।]

राजो—तो मैं भी न जाऊँगीं।

[तुनककर एक ओर खड़ी हो जाती है।]

अम्मा—तू...तुझे क्या हुआ?

राजो—मैं भी खेलूँगी। वाह जी वाह...

रम्मू—(बीच ही में, मुँह बनाकर) खेलेगी! जो खिलाऊँगा तब न?

[गेंद दिखाकर एक ओर उछालता है।]

राजो—तुम—तुम नहीं खिलाओगे? तुम्हारी तो छाँह भी खिलाये!...

अम्मा—अरी, जा, जा,—तू स्कूल जा; झगड़ा मत कर।

राजो—नहीं, अम्मा! रामू नहीं जायगा, तो मैं भी नहीं जाऊँगी।

अम्मा—तू तो पगली है। रामू कुएँ में गिरेगा, तो तू भी गिरेगी?

रम्मू—(तुरन्त ही) हाँ, ले यही रही। मैं कुएँ में गिरता हूँ, आ चल, तू भी गिर!

[तनकर चलने को उद्यत होता है।]

अम्मा—(दोनों हाथ बढ़ाकर) अरे बस रह! कोई बड़ाई की बात नहीं है, जिसके लिए इतनी जल्दी तैयार हो गया।

राजो—नहीं, अम्मा ! ज़रा जाने तो दे, यह रोज़ एक नई शेखी बघारता है।

अम्मा—अरी, तू भी कौन भली है ? मानती तो तू भी नहीं !

राजो—तो अम्मा ! यह भी तो उस दिन हमारी गुड़िया के ब्याह के दिन पढ़ने नहीं गया था...मैं नहीं जाऊँगी।

[दीवार से लगकर खड़ी हो जाती है।]

रम्मू—अच्छा अम्मा ! नहीं जाती है, न जाय। पर खेलेगी कैसे, गेंद तो मैं छूने नहीं दूँगा।

[यह कहकर गेंद उछालता है और राजो मौका पाते ही उसे दबोच लेती है।]

रम्मू—(राजो के सामने आकर) तू नहीं देगी गेंद ?

राजो—नहीं दूँगी।

[ऊपर ही ऊपर उछालती है।]

रम्मू—नहीं देगी ?

राजो—हाँ, हाँ ; नहीं दूँगी, नहीं दूँगी।

रम्मू—अच्छा...(यह कहते हुए वह दौड़ एक ताक से राजो की गुड़िया उठा लाता है)...बोल देगी ?

[राजो यह देख अवाक् रह जाती है।]

रम्मू—बोल !

[गुड़िया फाड़ने को तैयार हो जाता है।]

राजो—ले, यह अपनी गेंद।

[गेंद फेंक देती है, और दौड़कर गुड़िया ले लेती है।]

रम्मू—कैसी रही ?

[मुँह की टिटकारी के साथ गेंद उछालता है, राजो गुड़िया मज़बूती से हाथ में लिए चुपचाप देखती है।]

अम्मा—अरी, तू जाती है कि नहीं।

रम्मू—नहीं ; अम्मा आज इसे गेंद ही खेलने दो।

[राजो की तरफ़ मुँह बनाता है और गेंद उछालता है। राजो फिर मौक़ा

पाकर गेंद को हथिया लेती है। रम्मू खड़ा देखता रह जाता है।]

रम्मू—देखो अम्मा! यह गेंद नहीं देती है, मैं—(राजो की तरफ़ देखकर)—मैं फिर वही बात कह दूँगा।

अम्मा—क्या कह देगा रे!

रम्मू—(मा के कान के पास जाकर) 'राजो का दूल्हा काला!'

[राजो समझ जाती है।]

राजो—अच्छा, ले भी—अपनी गेंद! ले—(गद्दा देती है, रम्मू पकड़ने दौड़ता है, किन्तु गेंद फिर राजो के हाथ में आ जाती है।) अच्छा, ले...ले!

[बार-बार वह गद्दा देती है और गेंद को दबोच लेती है।]

रम्मू—ले...ले...तेरा सिर! (रम्मू खड़ा हो जाता है) तो मैं कह दूँ?

राजो—अच्छा, अबकी बेर यह ले!

[फिर गद्दा देती है और बार-बार रामू को भटकाती है।]

रम्मू—(खीझकर) 'राजो का...'

राजो—(फ़ौरन गेंद छोड़ते हुए) अच्छा ले।

रम्मू—(गेंद लेकर) अब तो मानी।

[गेंद उछालता है।]

राजो—ए...तो...मैंने...पकड़ी!

[हाथ बढ़ाकर गेंद की तरफ़ लपकती है और जान-बूझकर उसे छोड़ देती है।]

रम्मू—तुम? बस पकड़ चुकीं!

[रम्मू किसी तरह गेंद को पकड़कर दूसरी ओर गद्दा देता है।]

राजो—अच्छा। तो देखो।

[फिर लपकती है, फिर छोड़ देती है।]

रम्मू—बस?

[अपनी जीत समझकर बहुत खुश होता है, भूल जाता है कि राजो उसके साथ खेल रही है—बहुत देर हो जाती है।]

अम्मा—अरी राजो ! तू तो स्कूल जा रही थी।

राजो—हाँ, जाती हूँ अम्मा !

[और यह कहकर उसने गेंद फिर हथिया ली।]

रम्मू—अम्मा ! यह स्कूल नहीं जा रही है—देखो, देखो तो—मेरी गेंद फिर छीन ली ! (राजो की ओर देखकर) जाके जीमो, मेरी गेंद से न खेलो।

राजो—अच्छा ले, मैं जा रही हूँ !

[यह कह वह दो-चार गद्दे फिर गेंद को देती और रम्मू को भटकाती है, किंतु आखिर रम्मू को उसे दबोचने का मौक़ा देकर—मानों रम्मू सफल हुआ हो—और गेंद को छोड़कर, बस्ता ले, स्कूल को चल देती है।]

रम्मू—देखो, अबकी बार पकड़ी कि नहीं ? (यह कहते हुए वह जाती हुई राजो की ओर पीछे से देखता है) अच्छा, अब तो आप स्कूल जा रही हैं, कि नहीं और मैं देखो खेलता हूँ।

[मुँह बनाता है।]

[२]

[रम्मू अकेला गेंद उछाल रहा है।]

रम्मू—(ऊबता-सा) अम्मा, दीदी को छुट्टी कब होती है ?

अम्मा—अरे अभी से छुट्टी ? अभी तो वह गई ही है !

रम्मू—नहीं, अम्मा ! सच बताओ कब होगी उसकी छुट्टी ?

अम्मा—अरे तो जब होगी, होगी—तू अपना खेल न ? वह अभी चार-पाँच घण्टे नहीं आयेगी—तू खूब आज जी भरकर खेल ले।

रम्मू—चार-पाँच घण्टे अभी नहीं आयेगी ?

अम्मा—हाँ, हाँ चार-पाँच घण्टे क्या थोड़े होते हैं ! आखिर उसे कभी घर में घुसने भी देगा कि नहीं ?

रम्मू—(रंजीदा-सा होकर) अच्छा अम्मा, मैं अभी आता हूँ।

[बाहर की ओर चल खड़ा होता है।]

अम्मा—अरे सुन तो ! न जाने अब कहाँ चला। कहाँ से करम की मारी यह गेंद ले आई !

रम्मू—(जाते-जाते) अभी आता हूँ ।

[३]

[स्कूल के फाटक पर रम्मू ने राजो को आवाज़ दी और वह चली आई]

राजो—क्यों, क्या बात है रे ?

रम्मू—(साड़ी का पल्ला पकड़कर) दीदी !—

[संकोच करके रुक जाता है]

राजो—हाँ, हाँ, कह भी ?

रम्मू—तुम घर कब चलोगी ?

राजो—घर ? अभी तो आई ही हूँ ! क्यों अम्मा ने कुछ कहा है ?

[आशंकित होती है ।]

रम्मू—नहीं ।

राजो—तो ?...अरे तू बात बता, मुझे आप ही आज देर हो गई है, बहनजी, (अध्यापिका) नाराज़ हो रही हैं ।

रम्मू—तो तुम अभी नहीं चलोगी ?

राजो—हाय रे ! फिर वही । अरे कुछ बात भी बतलाया है कि नहीं ?...अम्मा को वही दौरा तो नहीं हो आया है ?

रम्मू—नहीं, नहीं ।

[यह कहकर वह हाथ में ली हुई गेंद की तरफ देखता है ।]

राजो—क्यों, क्या गेंद फट गई है ? तो मैं इसमें क्या कर दूँगी ? (गेंद हाथ में लेकर देखती और गद्दा देकर) ठीक तो है !

रम्मू—(प्रफुल्लित-सा हुआ) दीदी ! ऐसे ही, फिर चलो, खेलेंगे...चलो, अभी चलो !

राजो—अच्छा, इसलिए आये हैं आप ! नहीं, नहीं, मैं पढ़कर जाऊँगी । तुम जाओ, खेलो, अपनी गेंद से । वाह जी वाह ! मैं अपना हर्ज क्यों करूँ ?

रम्मू—(साड़ी का पल्ला खींचकर तथा गर्दन, हाथ, और पैर नचाकर) नहीं, दीदी ! तुम चलो, अच्छी दीदी ! अकेले नहीं खेल बनता !

राजो—नहीं, नहीं, भैया ! बहनजी (अध्यापिका) नाराज होंगी कि अभी आई थी और अभी कहाँ चली गई।

रम्मू—नहीं, तुम चलो ! मैं बहनजी से कहता आऊँगा कि दीदी को उल्टी (क़ै) हो गई थी, घर चली गईं—और तुम्हारा बस्ता भी ले आऊँगा।

राजो—नहीं, नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। वाह जी वाह, अभी तो तुम मेरी गुड़िया फाड़े दे रहे थे और अभी फिर यह ! तुम जाओ, तुम्हारी गेंद है, तुम्हीं उससे खेलो।

रम्मू—(आँखों में आँसू लाकर) मैं गुड़िया कभी नहीं फाड़ूँगा, और लो, यह गेंद भी तुम लो !

राजो—(उसके आँसुओं से भरे मुँह पर हाथ रखकर) अरे, मैं चलती तो हूँ, तू रो मत...मेरा भैया—आ आ !

[यह कहते हुए उसे गोदी में ले लेती है।]

[४]

[कमरे में पहुँचकर फिर दोनों गेंद खेलने लगे।]

अम्मा—अरी, तू आ गई ?...और यह कहाँ गया था ?

राजो—आ न जाती तो क्या करती ? हजरत वहाँ जाकर रोने लगे।

अम्मा—यह रम्मू ? तुझे लिवा लाने को ?

राजो—जी, अम्मा, यह रम्मू साहब ! (रम्मू की ओर मुँह करके) देखा, गुड़िया फाड़ने का मजा। खेल न लिए अकेले ?

[यह कहते हुए उसने रम्मू को गोदी में चिपका लिया]
